जैनधर्म का प्राण

•

पं सुखलाल संघवी

सत्साहित्य प्रकाशन

जैनधर्म का प्राण

—धर्म, दर्शन तथा संस्कृति का विवेचन—

पण्डित सुखलाल

संपादक
दलसुख मालवणिया
रतिलाल दीपचन्द देसाई

●

१९६५

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

वल्लभ-स्मृतिग्रंथमाला : ३

पहली बार : १९६५
मूल्य
दो रुपये

मुद्रक
श्री जैनेन्द्र प्रेस,
दिल्ली

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक मूल गुजराती में प्रकाशित हुई थी। दो वर्ष के भीतर उसका पहला संस्करण समाप्त हो गया और पाठको की माग को देखकर दूसरा संस्करण करना पडा।

हमे हर्ष है कि इस लोकोपयोगी पुस्तक का हिन्दी संस्करण 'मडल' से प्रकाशित हो रहा है।

पडित सुखलालजी जैन धर्म तथा दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान हैं, लेकिन उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और विचार अत्यन्त स्पष्ट हैं। समय-समय पर उनके लिखे लेखो के दो सग्रह गुजराती में 'दर्शन अने चिन्तन' और हिन्दी में 'दर्शन और चिन्तन' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री, 'ब्रह्म और सम' लेख को छोड़कर, इन्ही दो पुस्तकों से ली गई है। प्रत्येक लेख के साथ पुस्तक का सकेत 'द. अ. चि.' अथवा 'द. औ. चि., के रूप मे कर दिया गया है।

गुजराती लेखो का हिन्दी रूपान्तर प्रो० शान्तिलाल जैन शास्त्राचार्य ने किया है। हम उनके आभारी हैं।

हमे हर्ष है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के साथ दिवंगत जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी की स्मृति जुड़ी हुई है। आचार्यजी शुष्क क्रियाकांड एव हृदयहीन निवृत्ति के समर्थक नहीं थे और न ऐसी प्रवृत्ति के, जिसमें मानव की अन्तरात्मा लुप्त हो जाय। उनके जीवन मे दोनो का सुन्दर समन्वय था।

अपने विषय की यह बड़ी ही सारगर्भित पुस्तक है। हमें विश्वास है कि इस माला की अन्य पुस्तको की भांति यह पुस्तक भी सभी क्षेत्रों और वर्गों मे रुचिपूर्वक पढ़ी जायगी।

—मंत्री

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो ।
देवावितं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥

"अहिंसा, सयम, तप, रूप जो धर्म है वह उत्कृष्ट मगल है जिसका धर्म मे सदा मन है उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।"

—(दशवैकालिक सूत्र)

जिन्होने साधु के कठोर व्रतों का पालन करते हुए भी लोक-सेवा के बहुत-से काम किये और धर्म के मूल तत्त्वों को मानव-जीवन मे प्रतिष्ठित करने के लिए सतत प्रयास किया, उन

स्व० जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी

की

पावन स्मृति मे

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का नाम इसमे इसी नाम से मुद्रित एक लेख के आधार पर रखा गया है और वह सार्थक है। पण्डित सुखलालजी के लेखन की यह विशेषता है कि वे किसी भी विषय का ऊपर-ऊपर से निरूपण नही करते, परन्तु प्रतिपाद्य विषय के हार्द को पकड़कर ही उसका निरूपण करते है। इसीसे इस पुस्तक मे किया गया सस्कृति, धर्म, दर्शन, जैनधर्म, जैनदर्शन जैनआचार जैसे विषयो का प्रतिपादन उस-उस विषय के हार्द का ही विशेषत. स्पर्श करता है। धर्म आदि के बाह्य स्वरूप को तो सामान्यतः सब जानते हैं, क्योकि वह चर्मचक्षुओ से देखा जा सकता है, परन्तु उसके पीछे तत्त्व क्या है, इसकी जानकारी कम लोगो को होती है। इस पुस्तक मे जैन-धर्म के तत्त्व की, परमार्थ की अथवा उसके हार्द की ही विशेष रूप से जानकारी प्रस्तुत की गई है। इससे इस पुस्तक मे जैनधर्म के बारे मे उसके अनुयायियो को भी बहुत-कुछ नया जानने को मिलेगा और उनके बहुत-से भ्रम दूर होगे। जैनेतरो के लिए तो यह पुस्तक जैनधर्म-परिचय के लिए दीपक जैसी है, इसमे सन्देह नही।

पण्डितजी के लेखन की दूसरी विशेषता यह है कि वे इतिहास एव तुलना को महत्त्व का स्थान देते है। धार्मिक समझे जानेवाले लोग अपने धर्म की बिना गहरी जानकारी के ही कहते है कि हमारा ही धर्म सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ है, परन्तु पण्डितजी इतिहास और तुलना द्वारा धार्मिक समझे जानेवाले लोगो की ऐसी समझ को सशोधित कर निर्मल बनाने का प्रयत्न करते हैं। इससे धर्म-निष्ठा मे क्षति आने के बदले वह जागरूक बनती है और सत्य तत्त्व की उपलब्धि के परिणामस्वरूप उसकी निष्ठा अधिक सुदृढ़ बनती है। पण्डितजी की निरूपण-पद्धति से पाठक मे विवेकबुद्धि जागृत होती है और रूढ़ मान्यताओं का परीक्षण करके हेयो-पादेय का विवेक करने मे वह स्वय समर्थ बनता है। इस प्रकार पाठक की श्रद्धा को वे झकझोर कर एक बार तो उसकी बुनियाद को हिला देते

हैं, परन्तु वैसा करने के पीछे उनका उद्देश्य पाठक को श्रद्धाहीन बनाने का नही, बल्कि उसकी श्रद्धा के मूल को दृढ करने का है। पाठक सही अर्थ में श्रद्धालु बनता है और उसका कदाग्रह दूर होता है।

पण्डितजी के लेखन की इन दो विशेषताओं के मूल में उनका विशाल पठन-पाठन तो है ही, परन्तु उसके अतिरिक्त स्वतन्त्र चिन्तन-मनन करके उन्होने जो एक विशिष्ट वृत्ति साधी है, वह भी है। वह वृत्ति यानी धर्मों एव दर्शनो मे चाहे भेद दिखाई देता हो, परन्तु उस भेद में रहे हुए अभेद को ढूढकर उन सबका समन्वय करने की वृत्ति। इस समन्वय-भावना के कारण, वे भले ही जैन हो और जैनधर्म के अभ्यासी के तौर पर उन्होने ख्याति भी प्राप्त की हो, परन्तु उनके लेखो मे सर्वत्र समभाव दृष्टि-गोचर होता है। धर्म जैसे नाजुक विषय मे समभावपूर्वक लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है, फिर भी उन्होने जैनधर्म के हार्द का जो निरूपण इस पुस्तक मे किया है वह एक तटस्थ विद्वान को शोभा देने वाला है। इसमें जैनधर्म के किसी भक्त के द्वारा की गई अतिरजना नही है, तो उसके विरोधी के द्वारा किया गया दोषदर्शन भी नही है, परन्तु एक विवेचक द्वारा किया गया जैनधर्म के प्राण का निरूपण है।

जैनधर्म का प्रवर्तन किसी एक पुरुष के नाम से, शैव, वैष्णव आदि की भाति, नही हुआ, परन्तु वह जिन अर्थात राग-द्वेष के विजेताओं द्वारा आचरित और उपदिष्ट धर्म का नाम है। अत. जैनधर्म का प्रारम्भ किसी एक व्यक्ति ने किया है अथवा किसी एक व्यक्ति ही को उसमे देव के रूप मे स्थान है, ऐसी बात नही, परन्तु जो कोई राग-द्वेष का विजेता हो वह जिन है और उसका धर्म जैनधर्म है। ऐसे जैनधर्म के अनुयायी जैन कहलाते है। उन्होने कालक्रम से जिनमे राग-द्वेष की विजय देखी, उन्हे अपने इष्टदेव के रूप मे स्वीकार किया और वैसे विशिष्ट देवो को 'तीर्थकर' का नाम दिया। वैसे तीर्थकरो की सख्या उनके मत से बहुत बड़ी है, परन्तु इस कालमे—इस युग मे—विशेषत: ऋषभदेव से लेकर वर्धमान तक के २४ तीर्थंकर प्रसिद्ध हैं। दूसरे धर्मों की तरह वे ईश्वर के अवतार नही हैं अथवा अनादिसिद्ध ईश्वर भी नही हैं, परन्तु सामान्य मनुष्य के

रूप मे जन्म लेकर पूर्व सस्कार के कारण और उस जन्म में विशेष प्रकार की साधना करके तीर्थंकर पद प्राप्त करते है। इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थंकर हम मनुष्यो मे से ही एक हैं और उनका सन्देश है कि यदि कोई उनकी तरह प्रयत्न करे तो वह तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकता है। मानव-जाति मे ऐसे आत्मविश्वास की प्रेरणा करने वाले तीर्थंकर हैं। अन्य धर्मों में मनुष्य से भिन्न जाति के देव पूज्यता प्राप्त करते हैं, पर जैनधर्म मे मनुष्य ऐसी शक्ति प्राप्त करते है, जिससे देव भी उनकी पूजा करते हैं—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मो सया मणो॥

मनुष्य-जाति के पद की उत्कृष्टता का कथन महाभारत मे आता है: **'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'** (शान्तिपर्व २९९-२०) —मनुष्य की अपेक्षा कोई श्रेष्ठ नही है।

मनुष्य की ऐसी प्रतिष्ठा करने मे जैन तीर्थंकरो का हिस्सा अल्प नही है। जबतक तीर्थकरो का प्रभाव न था तबतक इन्द्र आदि देवो की पूजा-प्रतिष्ठा आर्य करते रहे और अनेक हिंसक-यज्ञो के अनुष्ठान द्वारा उन्हें प्रसन्न कर बदले मे सम्पत्ति मागते रहे। तीर्थकरो ने मानव की इस दीनता को हटाकर मनुष्य का भाग्य मनुष्य के हाथो मे सौपा। फलत धार्मिक मान्यता मे नव-जागरण आया, मनुष्य अपनी सामर्थ्य पहचानने लगा और उसने इन्द्र आदि देवो की उपासना का परित्याग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों मे भी राम और कृष्ण जैसे मनुष्यो की पूजा होने लगी, फिर भले ही कालक्रम ने उनको अवतारी पुरुष बना दिया हो। परन्तु मूल बात इतनी तो सच है कि देवो की अपेक्षा भी मनुष्य महान है, यह सन्देश तीर्थंकरो ने ही आर्यों को दिया है।

तीर्थकरो द्वारा प्रवर्तित धर्म का स्वरूप क्या है? उसका हार्द क्या है? —यह एक शब्द मे कहना हो तो कहेंगे कि वह 'अहिंसा' है। आचार मे अहिंसा के दो रूप हैं. सयम और तप। सयम मे सवर अर्थाय संकोच आता है—शरीर का, मन का और वाणी का। सयम के कारण वह नये बन्धनों मे फंसता नही और तप के द्वारा वह पुराने उपार्जित बन्धन काट

डालता है। इस प्रकार एकमात्र अहिंसा के पालन से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

जीवन मे अहिंसा का परिपूर्ण पालन करना हो तो विचार में अनेकान्त को बिना अपनाये चल नही सकता। इसी से अहिंसा मे से ही जैनधर्म का दार्शनिक सिद्धान्त 'अनेकान्त' फलित हुआ है। विचार के द्वार खुले रखो, तुमको सबके विचारो मे से सत्य की प्राप्ति होगी—यह है अनेकान्त का अर्थ। सत्य के आग्रही को सर्वप्रथम 'मेरा सो सच्चा, दूसरा सब खोटा' ऐसा कदाग्रह छोडना ही चाहिए। जबतक वह ऐसा कदाग्रह न छोडे तबतक उससे दूसरे के प्रति अन्याय हो ही जायगा, और यही तो हिंसा है। इससे अहिंसक के लिए अनेकान्तवादी होना अनिवार्य है। फलत. जैनधर्म मे जिस दर्शन का विकास हुआ, वह एकान्तवादी नही, किन्तु अनेकान्तवादी है ।

अहिंसा का जीवन-व्यवहार के लिए जो आचार है, वही जैनधर्म है और अहिंसा मे से फलित होने वाला दर्शन ही जैनदर्शन है । इससे जैनधर्म के अनुयायी श्रमण के जीवन-व्यवहार मे स्थूल जीव की रक्षा से आगे बढकर जो सूक्ष्म जीव है और जो चर्मचक्षुओं से नही दीखते, उनकी रक्षा की भी भावना निहित है, और इसी भावना के आधार पर ही आचार के विधि-निषेधो के सोपानो की रचना हुई है। इसके सम्पूर्ण अनुसरण का प्रयत्न श्रमण तथा आशिक अनुसरण का प्रयत्न श्रावक करते हैं ।

आचार के पीछे दर्शन न हो तो आचार की साधना में निष्ठा नही आती। इसी कारण प्रत्येक धर्म को जीव के बन्ध-मोक्ष तथा जीव के जगत के साथ के सम्बन्ध एव जगत के स्वरूप के बारे मे विचार करना पड़ता है। इस अनिवार्यता मे से समग्र जैन दर्शन का उद्भव हुआ है। पहले कहा है कि जैनदर्शन के विचार की विशेषता यह है कि वह सत्य की शोध के लिए तत्पर है और इसीलिए 'सम्पूर्ण दर्शनो का समूह रूप जैनदर्शन है'—ऐसा उद्घोष आचार्य जिनभद्र जैसे आचार्यों ने किया है।

जैनदर्शन मे मूल दो तत्त्व हैं: जीव और अजीव। इन दोनों का विस्तार पांच अस्तिकाय, छ· द्रव्य अथवा सात या नव तत्त्व के रूप में

पाया जाता है। चार्वाक केवल अजीव को पाच भूतरूप मानते थे और उपनिषद के ऋषि केवल जीव अर्थात आत्मा-पुरुष-ब्रह्म को मानते थे। इन दोनों मतो का समन्वय जीव एव अजीव ये दो तत्त्व मानकर जैन-दर्शन मे हुआ है। ससार और सिद्धि अर्थात निर्वाण अथवा बन्धन और मोक्ष सभी घट सकते है, जब जीव और जीव से भिन्न कोई हो। इसीलिए जीव और अजीव दोनो के अस्तित्व की तार्किक सगति जैनो ने सिद्ध की और पुरुष एव प्रकृति का अस्तित्व मानकर प्राचीन साख्यो ने भी वैसी सगति साधी। इसके अतिरिक्त आत्मा को या पुरुष को केवल कूटस्थ मानने से भी बन्ध-मोक्ष जैसी विरोधी अवस्थाए जीव मे नही घट सकती। इससे सब दर्शनो से अलग पड़कर, बौद्धसम्मत चित्त की भाति, आत्मा को भी एक अपेक्षा से जैनो ने अनित्य माना और सबकी तरह नित्य मानने मे भी जैनो को कुछ आपत्ति तो है ही नही, क्योकि बन्ध और मोक्ष तथा पुनर्जन्म का चक्र एक ही आत्मा मे है। इस प्रकार आत्मा को जैन मत मे परिणामी-नित्य माना गया। सांख्यो ने प्रकृति—जड तत्त्व को तो परिणामी-नित्य माना था और पुरुष को कूटस्थ, परन्तु जैनो ने जड और जीव दोनो को परिणामी-नित्य माना। इसमे भी उनकी अनेकान्त दृष्टि स्पष्ट होती है।

जीव के चैतन्य का अनुभव मात्र देह मे ही होता है, अत जैन मत के अनुसार जीव—आत्मा देह परिमाण है। नये-नये जन्म जीव धारण करता है, इसलिए उसके लिए गमनागमन अनिवार्य है। इसी कारण जीव को गमन मे सहायक द्रव्य धर्मास्तिकाय के नाम से और स्थिति मे सहायक द्रव्य अधर्मास्तिकाय के नाम से—इस प्रकार दो अजीव द्रव्यो का मानना अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार यदि जीव का ससार हो तो बन्धन भी होना ही चाहिए। वह बन्धन पुद्गल अर्थात जड द्रव्य का है। अतएव पुद्गलास्तिकाय के रूप मे एक दूसरा भी अजीव द्रव्य माना गया। इन सबको अवकाश देने वाला द्रव्य आकाश है, उसे भी जडरूप अजीव द्रव्य मानना आवश्यक था। इस प्रकार जैनदर्शन मे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल—ये पाच अस्तिकाय माने गए हैं। परन्तु जीवादि द्रव्यो की विविध अवस्थाओं की कल्पना काल के बिना नही हो सकती।

फलत एक स्वतंत्र कालद्रव्य भी अनिवार्य था। इस प्रकार पांच अस्ति-कायो के स्थान पर छह द्रव्य भी हुए। जब काल को स्वतत्र द्रव्य नहीं माना जाता तब उसे जीव और अजीव द्रव्यो के पर्यायरूप मानकर काम चलाया जाता है।

अब सात तत्त्व और नौ तत्त्व के बारे मे थोड़ा स्पष्टीकरण कर ले। जैनदर्शन मे तत्त्वविचार दो प्रकार से किया जाता है। एक प्रकार के बारे मे हमने ऊपर देखा। दूसरा प्रकार मोक्षमार्ग मे उपयोगी हो, उस तरह पदार्थो की गिनती करने का है। इसमे जीव, अजीव, आस्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्त्वो की गिनती का एक प्रकार और उसमे पुण्य एव पाप का समावेश करके कुल नौ तत्त्व गिनने का दूसरा प्रकार है। वस्तुत जीव और अजीव का विस्तार करके ही सात और नौ तत्त्व गिनाये हैं, क्योकि मोक्षमार्ग के वर्णन मे वैसा पृथक्करण उपयोगी होता है। जीव और अजीव का स्पष्टीकरण तो ऊपर किया ही है। अशत: अजीव—कर्मसस्कार—बन्धन का जीव से पृथक होना निर्जरा है और सर्वांशत पृथक होना मोक्ष है। कर्म जिन कारणो से जीव के साथ बन्ध मे आते है वे कारण आस्रव है और उसका निरोध सवर है। जीव और अजीव—कर्म का एकाकार जैसा सम्बन्ध बन्ध है।

साराश यह कि जीव मे राग-द्वेष, प्रमाद आदि जहातक रहते हैं, वहातक बन्ध के कारणो का अस्तित्व होने से ससारवृद्धि हुआ करती है। उन कारणो का निरोध किया जाय तो ससार भाव दूर होकर जीव सिद्धि अथवा निर्वाण अवस्था प्राप्त करता है। निरोध की प्रक्रिया को सवर कहते हैं, अर्थात जीव की मुक्त होने की साधना—विरति आदि—सवर हैं, और केवल विरति आदि से सन्तुष्ट न होकर जीव कर्म से छूटने के लिए तपश्चर्या आदि कठोर अनुष्ठान आदि भी करता है; उससे निर्जरा—आशिक छुटकारा—होता है और अन्त मे वह मोक्ष प्राप्त करता है।

सक्षेप मे, इस पुस्तक के सकलन के पीछे हमारी दो दृष्टिया रही हैं। एक तो यह कि जैनदर्शन एवं जैनधर्म के बारे में कुछ विशिष्ट जानकारी

जिज्ञासुओं के समक्ष उपस्थित करना। यह जानकारी मिलने पर जैनधर्म तथा जैनदर्शन की दूसरे भारतीय दर्शनो की अपेक्षा क्या विशेषता है तथा उसके साथ वे कहा तक मिलते-जुलते हैं; इसका भी कुछ अनुमान जिज्ञासुओ को सहज भाव से हो सकेगा। दूसरी दृष्टि है, पूज्य पण्डितजी की सत्य-शोधक, तुलनात्मक, तटस्थ, समन्वयगामी और मौलिक विद्वत्ता का थोडा-सा परिचय जिज्ञासुओ को कराना। समत्व एव सत्य को केन्द्र मे रखकर समस्त भारतीय दर्शनो और धर्मों का अभ्यास करने वाले एक विद्वान के रूप मे पण्डितजी का स्थान अद्वितीय है, यह कहने की आवश्यकता नही है।

जैनधर्म एव जैनदर्शन के प्राथमिक जिज्ञासुओं की दृष्टि से यह पुस्तक तैयार नही की गई, परन्तु जिन्हे प्रारम्भिक ज्ञान है, ऐसे जिज्ञासु यदि एक अभ्यासी की तरह चिन्तन-मननपूर्वक इस पुस्तक को पढेंगे तो अनेक विषयो के ऊपर नये प्रकाश की उपलब्धि के साथ उन्हे पण्डित-जी का और भी अधिक साहित्य पढने की प्रेरणा प्राप्त हुए बिना नही रहेगी।

इस पुस्तक की एक पूरक पुस्तक के रूप मे पण्डितजी की 'चार तीर्थंकर' नाम की पुस्तक पढने का हम सब जिज्ञासुओ से आग्रह करते हैं।

इस पुस्तक मे सगृहीत विषयों के अतिरिक्त जैनधर्मदर्शन विषयक दूसरे भी अनेक विषय ज्ञातव्य हैं, परन्तु पुस्तक की पृष्ठ-सख्या को मर्यादा मे रहकर जो कुछ भी योग्य सामग्री दी जा सकती थी, वह चुनकर देने का प्रयत्न हमने किया है। आशा है, जिज्ञासुओ तथा अभ्या-सियो को यह उपयोगी सिद्ध होगी।

यह पुस्तक सामान्य पाठको को भी सुलभ हो, इस दृष्टि से अजमेर के श्री मदनचन्द, शिवचन्द घाड़ीवाल ट्रस्ट ने इसके प्रकाशन मे एक हज़ार रुपये की सहायता दी है। पुस्तक का मूल्य इसी से कम रखना संभव हो सका है।

—दलसुख मालवणिया

अनुक्रमणिका

जैनधर्म का प्राण

: १ :

पूर्व भूमिका

[धर्म, तत्त्वज्ञान, सस्कृति इत्यादि का सामान्य विवेचन]

१. धर्म, तत्त्वज्ञान और संस्कृति

ज्ञान एव विद्या केवल अधिक वाचन से ही प्राप्त होती है, ऐसा नही है। कम या अधिक पढना रुचि, शक्ति और सुविधा का प्रश्न है। परन्तु कम पढने पर भी अधिक सिद्धि एव लाभ प्राप्त करना हो तो उसके लिए अनिवार्य शर्त यह है कि मन को उन्मुक्त रखना और सत्यजिज्ञासा की सिद्धि मे किसी भी प्रकार के पूर्वग्रह अथवा रूढ सस्कारो को बीच मे आने न देना। मेरा अनुभव कहता है कि इसके लिए सबसे पहले निर्भयता की आवश्यकता है। धर्म का कोई भी सही और उपयोगी अर्थ होता हो तो वह है निर्भयता के साथ सत्य की खोज। तत्त्वज्ञान सत्यशोध का एक मार्ग है। हम चाहे जिस विषय का अध्ययन करें, परन्तु उसके साथ सत्य और तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध होता है। ये दोनो चीजे किसी भी सीमा मे बद्ध नही होती। मन के सभी द्वार सत्य के लिए उन्मुक्त हो और निर्भयता उसकी पार्श्वभूमि मे हो, तो जो कुछ भी सोचे या करे वह सब तत्त्वज्ञान अथवा धर्म मे आ जाता है।

जीवन मे से मैल और निर्बलता को दूर करना तथा उनके स्थान पर सर्वांगीण स्वच्छता एव सामजस्यपूर्ण बल पैदा करना ही जीवन की सच्ची सस्कृति है। यही बात प्राचीनकाल से प्रत्येक देश और जाति मे धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। हमारे देश मे सस्कृति की साधना हजारो वर्ष पहले से शुरू हुई थी और वह आज भी चल रही है। इस साधना के लिए भारत का नाम सुविख्यात है। सच्ची सस्कृति के बिना मानवता अथवा राष्ट्रीयता पैदा नही होती और वह पनपती भी नही। व्यक्ति की सभी शक्तिया और प्रवृत्तिया एकमात्र सामाजिक कल्याण की दिशा में योजित हो तभी धर्म

अथवा सस्कृति चरितार्थ होती है। धर्म, सस्कृति एव तत्त्वज्ञान की विकृत समझ दूर करने और सदियो-पुराने वहमो का उन्मूलन करने के लिए भी सस्कृति की सही और गहरी समझ आवश्यक है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ७)

२. तत्त्वज्ञान और धर्म का सम्बन्ध

तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्यशोधन के प्रयत्न मे से फलित हुए और फलित होनेवाले सिद्धान्त, धर्म अर्थात वैसे सिद्धान्तो के अनुसार निर्मित वैयक्तिक और सामूहिक जीवनव्यवहार। यह सच है कि एक ही व्यक्ति अथवा समूह की योग्यता तथा शक्ति सदा एक-सी नही होती। उसकी भूमिका और अधिकारभेद के अनुसार धर्म मे अन्तर आयेगा, इतना ही नही, धर्माचरण मे अधिक पुरुषार्थ की अपेक्षा रहने से वह गति मे तत्त्वज्ञान के पीछे ही रहेगा। फिर भी इन दोनो की दिशा ही मूलत भिन्न हो तो तत्त्वज्ञान चाहे जितना गहरा और चाहे जितना सत्य हो तथापि धर्म उसके प्रकाश मे वचित रहेगा। इसके परिणामस्वरूप मानवता का विकास अवरुद्ध हो जायेगा। तत्त्वज्ञान की शुद्धि, वृद्धि और परिपाक जीवन मे धर्म को उतारे बिना सम्भव नही है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अवलम्बन से रहित धर्म जडता और वहम से मुक्त नही हो सकता। अतएव दोनो के बीच यदि दिशा-भेद हो तो वह घातक है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० २०२)

३. धर्म का बीज

धर्म का बीज क्या है और उसका प्रारभिक स्वरूप क्या है ? हम सभी अनुभव करते हैं कि हममे जिजीविषा है। जिजीविषा केवल मनुष्य, पशु-पक्षी तक ही सीमित नही है, वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीट, पतग और बेक्टेरिया जैसे जतुओ मे भी है। जिजीविषा के गर्भ मे ही सुख की ज्ञात, अज्ञात अभिलाषा अनिवार्य रूप से निहित है। जहाँ सुख की अभिलाषा है, वहाँ प्रतिकूल वेदना या दु ख से बचने की वृत्ति भी अवश्य रहती है। इस जिजीविषा, सुखाभिलाषा और दुःख के प्रतिकार की इच्छा मे ही धर्म का बीज निहित है।

कोई छोटा या बड़ा प्राणधारी अकेले अपने-आपमें जीना चाहे तो जी नही सकता और वैसा जीवन बिता भी नही सकता। वह अपने छोटे-बडे सजातीय दल का आश्रय लिये बिना चैन नही पाता। जैसे वह अपने दल मे रहकर उसके आश्रय से सुखानुभव करता है वैसे ही यथावसर अपने दल के अन्य व्यक्तियो को यथासभव मदद देकर भी सुखानुभव करता है। यह वस्तुस्थिति चीटी, भौरे और दीमक जैसे क्षुद्र जन्तुओ के वैज्ञानिक अन्वेषको ने विस्तार से दरसाई है। इतने दूर न जानेवाले सामान्य निरीक्षक भी पक्षियो और बन्दर जैसे प्राणियो मे देख सकते है कि तोता, मैना, कौआ आदि पक्षी केवल अपनी सतति के ही नही, बल्कि अपने सजातीय दल के सकट के समय भी उसके निवारणार्थ मरणात प्रयत्न करते हैं और अपने दल का आश्रय किस तरह पसद करते हैं। आप किसी बन्दर के बच्चे को पकडिए, फिर देखिए कि केवल उसकी माँ ही नही, उस दल के छोटे-बडे सभी बन्दर उसे बचाने का प्रयत्न करते है। इसी तरह पकडा जानेवाला बच्चा केवल अपनी माँ की ही नही अन्य बन्दरो की ओर भी बचाव के लिए देखता है। पशु-पक्षियों की यह रोज़मर्रा की घटना है तो अतिपरिचित और बहुत मामूली-सी, पर इसमे एक सत्य सूक्ष्मरूप से निहित है।

वह सत्य यह है कि किसी प्राणधारी की जिजीविषा उसके जीवन से अलग नही हो सकती और जिजीविषा की तृप्ति तभी हो सकती है, जब प्राणधारी अपने छोटे-बडे दल मे रहकर उसकी मदद ले और मदद करें। जिजीविषा के साथ अनिवार्य रूप से सकलित इस सजातीय दल से मदद लेने के भाव मे ही धर्म का बीज निहित है। अगर समुदाय मे रहे बिना और उससे मदद लिए बिना जीवनधारी प्राणी की जीवनेच्छा तृप्त होती, तो धर्म का प्रादुर्भाव सभव ही न था। इस दृष्टि से देखने पर कोई सन्देह नही रहता कि धर्म का बीज हमारी जिजीविषा मे है और वह जीवन-विकास की प्राथमिक-से-प्राथमिक स्थिति मे भी मौजूद है, चाहे वह अज्ञान या अव्यक्त अवस्था ही क्यों न हो।

हरिण जैसे कोमल स्वभाव के ही नही, बल्कि जगली भैसों तथा गैण्डों जैसे कठोर स्वभाव के पशुओं मे भी देखा जाता है कि वे सब अपना-अपना दल बाँधकर रहते और जीते हैं। इसे हम चाहे आनुवशिक सस्कार मानें

चाहे पूर्वजन्मोपार्जित, पर विकसित मनुष्य-जाति मे भी यह सामुदायिक वृत्ति अनिवार्य रूपसे देखी जाती है। जब पुरातन मनुष्य जगली अवस्था मे था तब और जब आज का मनुष्य सभ्य गिना जाता है तब भी, यह सामुदायिक वृत्ति एक-सी अखण्ड देखी जाती है। हाँ, इतना अतर अवश्य है कि जीवन-विकास की अमुक भूमिका तक सामुदायिक वृत्ति उतनी समान नही होती, जितनी कि विकसित बुद्धिशील गिने जानेवाले मनुष्य मे है। हम अभान या अस्पष्ट भानवाली सामुदायिक वृत्ति को प्रावाहिक या औघिक वृत्ति कह सकते है। पर यही वृत्ति धर्म-बीज का आश्रय है, इस मे कोई सन्देह नही। इस धर्म-बीज का सामान्य और सक्षिप्त स्वरूप यही है कि वैयक्तिक और सामुदायिक जीवन के लिए जो अनुकूल हो उसे करना और जो प्रतिकूल हो उसे टालना या उससे बचना।

(द० औ० चिं० ख० १, पृ० ३-५)

४. धर्म का ध्येय

धर्म का ध्येय क्या होना चाहिए ? किस बात को धर्म के ध्येय के तौर पर सिद्धान्त मे, विचार मे और आचरण मे स्थान देने से धर्म की सफलता और जीवन की विशेष प्रगति साधी जा सकती है ?

इसका जवाब यह है कि प्रत्येक व्यक्ति मे अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य का ठीक-ठीक भाव, कर्तव्य के प्रति उत्तरदायित्व मे रस और उस रस को मूर्त करके दिखलाने जितने पुरुषार्थ की जागृति—इसी को धर्म का ध्येय मानना चाहिए। यदि उक्त तत्त्वो को धर्म के ध्येय के रूप मे स्वीकार करके उन पर भार दिया जाय तो प्रजाजीवन समग्रभाव से पलट सकता है।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० ६४)

५. धर्म: विश्व की सम्पत्ति

आध्यात्मिक धर्म किसी एक व्यक्ति के जीवन मे से छोटे-बडे स्रोत के रूप मे प्रकट होता है, और वह आसपासके मानव-समाज की भूमिका को प्लावित करता है। उस स्रोत का बल और परिमाण चाहे जितना हो, वह

सामाजिक जीवन की भूमिका को अमुक अश मे ही आर्द्र करता है। भूमिका की इस अपूर्ण आर्द्रता से ही अनेक कीटाणु पैदा होते है और वे अपनी आधारभूत भूमिका को ही खा डालते है। इतने मे किसी दूसरे व्यक्ति मे धर्म का स्रोत फूट पडता है और वह पहले की कीटाणुजन्य दुर्गन्ध को साफ करने के लिए प्रयत्नशील होता है। यह दूसरा स्रोत पूर्वस्रोत पर जमी हुई काई को साफ करके जीवन की भूमिका मे अधिक फलदायी काँप छोड जाता है। इसके बाद काप के इस दूसरे स्तर पर जब काई जमती है, तब कभी कालक्रम से तीसरे व्यक्ति मे से पैदा धर्म-स्रोत उसका मार्जन कर डालता है। इस प्रकार मानवजीवन की भूमिका पर धर्म-स्रोत के अनेक प्रवाह बहते रहते हैं। इसके फलस्वरूप भूमिका विशेष एव विशेष योग्य तथा उपजाऊ बनती जाती है।

धर्म-स्रोत का प्रकटीकरण किसी एक देश या किसी एक जाति की पैतृक सम्पत्ति नही है, वह तो मानवजातिरूपी एक वृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर आनेवाले सु-फल हैं। इसका प्रभाव चाहे विरल व्यक्ति मे हो, परन्तु उसके द्वारा समुदाय का अमुक अश मे विकास अवश्य होता है।
(द० अ० चि० भा० १, पृ० २८)

६. धर्म के दो रूप : बाह्य और आभ्यन्तर

धर्म के दो रूप हैं एक तो वह जो नजर मे आता है और दूसरा वह जो आँखो से नही देखा जाता, परन्तु केवल मन मे ही समझा जा सकता है। पहले रूप को धर्म की देह और दूसरे रूप को उसकी आत्मा कह सकते है।

दुनिया के सभी धर्मों का इतिहास कहता है कि सभी धर्मों की देह जरूर होती है। अत प्रथम यह देखे कि यह देह किसकी बनती है। सभी छोटे-बडे धर्मपन्थो का अवलोकन करने पर इतनी बाते तो सर्वसाधारण-सी हैं · शास्त्र, उसका रचयिता तथा उसे समझानेवाला पण्डित अथवा गुरु, तीर्थ, मन्दिर आदि पवित्र समझे जानेवाले स्थान, अमुक प्रकार की उपासना अथवा विशिष्ट प्रकार के क्रियाकाण्ड, वैसे क्रियाकाण्डो और उपासनाओ को पोसने और उन पर निभनेवाला एक वर्ग। सभी धर्मपन्थो मे, एक अथवा दूसरे रूप में, उपर्युक्त बाते पाई जाती हैं और वे ही

उस-उस धर्मपन्थ की देह है। अब यह देखना है कि धर्म की आत्मा क्या है? आत्मा अर्थात् चेतना या जीवन। सत्य, प्रेम, नि स्वार्थता, उदारता और विनय-विवेक आदि सद्गुण धर्म की आत्मा है। देह चाहे अनेक और भिन्न-भिन्न हो, परन्तु आत्मा सर्वत्र एक ही होती है। एक ही आत्मा अनेक देहो द्वारा व्यक्त होती है; अथवा यो कहे कि एक ही आत्मा अनेक देहो मे जीवन धारण करती है, जीवन बहाती है।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० १२२)

*　　　*　　　*

धर्म यानी सत्य की प्राप्ति के लिए बेचैनी—उत्कट अभीप्सा—और विवेकी समभाव तथ इन दो तत्त्वो के आधार पर निर्मित होनेवाला जीवन-व्यवहार। यही धर्म पारमार्थिक है। दूसरे धर्म की कोटि मे गिने जानेवाले विधि-निषेध, क्रियाकाण्ड, उपासना के प्रकार आदि सब व्यावहारिक धर्म हैं। ये तब तक और उतने ही अश मे यथार्थ धर्म के नाम के पात्र है, जब तक और जितने अश मे ये उक्त पारमार्थिक धर्म के साथ अभेद्य सम्बन्ध रखते है। पारमार्थिक धर्म जीवन की मूलभूत एव अदृश्य वस्तु है। उसका अनुभव या साक्षात्कार तो धार्मिक व्यक्तियो को ही होता है, जब कि व्यावहारिक धर्म दृश्य होने से परगम्य है। पारमार्थिक धर्म का सम्बन्ध न हो तो चाहे जितने प्राचीन और बहुसम्मत सभी धर्म वस्तुत धर्माभास ही हैं।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० २८)

*　　　*　　　*

धर्म के दो स्वरूप है : पहला तात्त्विक—सद्गुणात्मक है, जिसमे सामान्यतः किसी का मतभेद नही; दूसरा व्यावहारिक—बाह्यप्रवृत्ति-रूप है, जिसमे विभिन्न प्रकार के मतभेद अनिवार्य है। जो तात्त्विक एव व्यावहारिक धर्म के बीच रहा हुआ भेद समझते है, जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे मे विचार-विमर्श कर सकते हैं, सक्षेप मे, तात्त्विक और व्यावहारिक धर्म के समुचित पृथक्करण की तथा

उनके बलाबल की कुंजी जिनको प्राप्त हुई है, उनको व्यावहारिक धर्म के मतभेद क्लेशवर्धक हो नही सकते। इसका सार यही निकला कि यदि धर्म की सही और स्पष्ट समझ हो तो कोई भी मतभेद क्लेश पैदा नही कर सकता, एकमात्र सही समझ ही क्लेशवर्धक मतभेद के निवारण का उपाय है। यह समझ का तत्त्व प्रयत्न से मानवजाति मे फैलाया जा सकता है। अत. ऐसी समझ की प्राप्ति अथवा उसका व्यवस्थित विकास इष्ट है।

शुद्ध वृत्ति और शुद्ध निष्ठा निर्विवाद रूप से धर्म है, जबकि बाह्य व्यवहारो की धर्म-अधर्मता के बारे मे मतभेद है। इसलिए बाह्य आचार या व्यवहार, नियम या रीतिरिवाजो की धर्म्यता अथवा अधर्म्यता की कसौटी तात्त्विक धर्म ही हो सकता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ०५२-५३)

७. धर्मदृष्टि और उसका ऊर्ध्वीकरण

ऊर्ध्वीकरण का अर्थ है शुद्धीकरण तथा विस्तरण। धर्मदृष्टि जैसे-जैसे शुद्ध होती जाती है अथवा शुद्ध की जाती है तथा उसका विस्तार फैलता जाता है, अर्थात् सिर्फ़ व्यक्तिगत न रहकर उसके सामुदायिक रूप का जैसे-जैसे निर्माण होता जाता है, वैसे-वैसे उसका ऊर्ध्वीकरण भी होता जाता है, ऐसा समझना चाहिए। इसी को Sublimation कहते है।

जिजीविषा अथवा जीवनवृत्ति तथा धर्मदृष्टि ये दोनो प्राणीमात्र मे सहभू एव सहचारी है। धर्मदृष्टि के अभाव मे जीवनवृत्ति सन्तुष्ट नही होती और जीवनवृत्ति के होने पर ही धर्मदृष्टि का अस्तित्व सम्भव है। ऐसा होने पर भी मनुष्य एव इतर जीवजगत् के बीच स्थिति भिन्न-भिन्न है। पशु-पक्षी और कीट-पतग जैसे अनेक प्राणीजातियो के जीव-जन्तुओ मे हम देखते हैं कि वे केवल अपने दैहिक जीवन के लिए ही प्रवृत्ति नही करते, परन्तु वे अपने-अपने छोटे-बडे यूथ, दल अथवा वर्ग के लिए भी कुछ-न-कुछ करते ही है। यह उनकी एक प्रकार की धर्मवृत्ति हुई। परन्तु इस धर्मवृत्ति के मूल मे जातिगत परम्परा से चला आता एक रूढ सस्कार होता है, उसके साथ समझदारी अथवा विवेक का तत्त्व खिला नही होता

और उसकी शक्यता भी नही होती। अत इस धर्मवृत्ति को धर्मदृष्टि की कोटि मे नही रखा जा सकता।

एक मानव-प्राणी ही ऐसा है जिसके भीतर धर्मदृष्टि के बीज स्वयम्भू रूप से पडे है। वैसे बीजो मे उसकी ज्ञान और जिज्ञासावृत्ति, सकल्पशक्ति और अच्छे-बुरे का विवेक करने की शक्ति तथा ध्येय को सिद्ध करने का पुरुषार्थ—ये मुख्य है। मनुष्य के जितना भूतकाल का स्मरण अन्य किसी प्राणी मे नही है। उसके जितनी भूतकाल की विरासत सम्हालने की और भावी पीढियो को उस विरासत मे कुछ अभिवृद्धि करके देने की कला भी और किसी मे नही है। वह एक बार कुछ भी करने का सकल्प करता है तो उसे साधकर ही रहता है और अपने निर्णयो को भी, भूल ज्ञात होने पर, बदलता और सुधारता है। उसके पुरुषार्थ की कोई सीमा नही है। वह अनेक नये-नये क्षेत्र खोजता है और उनमे प्रवृत्ति करता है। मानव-जाति की यह शक्ति ही उसकी धर्मदृष्टि है।

परन्तु मानवजाति मे इस समय धर्मदृष्टि के विकास की जो भूमिका दिखाई देती है, वह सहसा सिद्ध नही हुई। इसका साक्षी इतिहास है। एडवर्ड केर्ड नाम के विद्वान ने धर्मविकास की भूमिकाओ का निर्देश सक्षेप मे इस प्रकार किया है : We look out before we look in, and we look in before we look up डॉ आनन्दशकर ध्रुव ने इसे समझाते हुए कहा है कि "प्रथम बहिर्दृष्टि, फिर अन्तर्दृष्टि और अन्त मे ऊर्ध्वदृष्टि। प्रथम ईश्वर का दर्शन बाह्य सृष्टि मे होता है, पश्चात् अन्तरात्मा मे (कर्तव्य का भान इत्यादि मे) होता है और अन्त में उभय की एकता मे होता है।" जैन परिभाषा के अनुसार इनको बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की अवस्था कह सकते है।

मनुष्य चाहे जैसा शक्तिशाली क्यो न हो, परन्तु वह स्थूल मे से अर्थात् द्रव्य मे से सूक्ष्म में अर्थात् भाव में प्रगति करता है। यूनान में शिल्प, स्थापत्य, काव्य, नाटक, तत्त्वज्ञान, गणित आदि कलाओं और विद्याओं का एक काल मे अद्भुत विकास हुआ था। वैसे समय मे ही एक व्यक्ति में अगम्य रूप से धर्मदृष्टि, मानवजाति को चकाचौंध कर दे उतने परिमाण मे, विकसित हुई। उस सुकरात ने कलाओ और विद्याओं का मूल्य ही धर्म-

दृष्टि के गज़ से बदल डाला और उसकी इस धर्म-दृष्टि का आज तो चारो ओर से सत्कार हो रहा है।

यहोवाह् ने मूसा को जो आदेश दिया वह केवल यहूदी लोगो के स्थूल उद्धार तक ही मर्यादित था और इतर समकालीन जातियो का उसमे विनाश भी सूचित होता था, परन्तु उसी जाति मे ईसा मसीह के पैदा होने पर धर्म-दृष्टि ने दूसरा ही रूप लिया। ईसा मसीह ने धर्म की सभी आज्ञाओं का बाहर-भीतर से सशोधन किया तथा देश-काल का भेद किये बिना सर्वत्र लागू हो सके उस प्रकार उनको उदात्त बनाया। इन सबके पहले ईरान मे जरथोस्त्र ने नवीन दर्शन प्रदान किया था, जो अवेस्ता मे जीवित है। आपस मे लडते-झगडते और अनेक प्रकार के वहमो से जकडे हुए अरब के कबीलो को एक-दूसरे के साथ जोडने की और कुछ अशो मे वहमो से मुक्त करने की धर्म-दृष्टि मुहम्मद पैगम्बर मे विकसित हुई।

परन्तु धर्मदृष्टि के विकास एव ऊर्ध्वीकरण की मुख्य कथा तो मै भारतीय परम्पराओ के आधार पर कहना चाहता हूँ। वेदो के उष., वरुण इन्द्र आदि सूक्तो मे कवियो की सौन्दर्य-दृष्टि, पराक्रम के प्रति अहोभाव तथा किसी दिव्यशक्ति के प्रति भक्ति जैसे मगल तत्त्व देखे जाते हैं, परन्तु उन कवियो की धर्म-दृष्टि मुख्य रूप से सकाम है। इसीलिए वे दिव्य-शक्ति के पास अपनी, अपने कुटुम्ब की और पशु आदि परिवार की समृद्धि की याचना करते है और बहुत हुआ तो दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना करते है। सकामता की यह भूमिका ब्राह्मणकाल मे विकास पाती है। उसमें ऐहिक के अलावा आमुष्मिक भोगो को साधने के नये-नये मार्ग निकाले जाते है।

परन्तु, यह सकाम धर्म-दृष्टि समाज मे व्याप्त थी उसी समय सहसा धर्म-दृष्टि का प्रवाह बदलता दिखता है। किसी तपस्वी अथवा ऋषि को सूझा कि दूसरे लोक के सुखभोग चाहना और वह भी अपने लिए अथवा बहुत हुआ तो परिवार या जनपद के लिए तथा दूसरो की अपेक्षा खूब अधिक, तो यह कुछ धर्म-दृष्टि नही कही जा सकती। धर्म-दृष्टि मे कामना का तत्त्व हो तो वह एक प्रकार की न्यूनता ही है। इस विचार मे से नया प्रस्थान शुरू हुआ और उसका जादू व्यापक रूप से फैल गया। ईसापूर्व

आठ-सौ अथवा हजार वर्ष जितने प्राचीन युग मे अकाम दृष्टि के अनेक प्रयोग होते देखे जाते हैं। उपनिषद् इसी धर्म-दृष्टि का विवरण करते है। जैन, बौद्ध आदि सघो की नीव ही इस दृष्टि पर आवारित है। यह अकाम धर्म-दृष्टि, अन्तरात्म-दृष्टि या धर्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसमे मनुष्य पहले अपने-आपको शुद्ध करने का और साथ ही समग्र विश्व के साथ तादात्म्य साधने का प्रयत्न करता है। इसमे ऐहिक और पारलौकिक किसी स्थूल भोग की इच्छा के लिए आदर है ही नही।

कुटुम्ब और समाज मे रहकर निष्कामता साधी नही जा सकती— इस विचार मे से एकान्तवास और अनगारभाव की वृत्ति बल पकडती है, और ऐसी वृत्ति ही मानो निष्कामता या वासना-निवृत्ति हो, इस प्रकार की उसकी प्रतिष्ठा जमती है। काम-तृष्णा की निवृत्ति या शुद्धीकरण का स्थान मुख्य रूप से प्रवृत्ति-त्याग ही लेता है, और जीवन जीना मानो एक पाप या शाप हो ऐसी मनोवृत्ति समाज मे प्रवेश पाती है। ऐसे समय पुन अकाम धर्म-दृष्टि का सशोधन होता है। ईशावास्य घोषणा करता है कि समग्र जगत हमारे जैसे चैतन्य से भरापूरा है, अतएव जहाँ जाओगे वहा दूसरे भी भोगी तो है ही। वस्तुभोग कोई मूलगत दोष नही है, वह जीवन के लिए अनिवार्य है। इसलिए दूसरे की सुविधा का ध्यान रखकर जीवन जीओ और किसीके धन की ओर ललचाओ नही। प्राप्तकर्तव्य करते जाओ और जितना जी सको उतना जीओ। ऐसा करने से न तो काम-तृष्णा का बन्धन बाधक होगा और न किसी दूसरे लेप से लिप्त हो सकोगे। सचमुच, ईशावास्य ने निष्काम धर्मदृष्टि का अन्तिम अर्थ बतलाकर मानव-जाति को धर्म-दृष्टि के ऊर्ध्वीकरण की ओर प्रयाण करने मे खूब मदद की है। गीता के भव्य प्रासाद की नीव ईशावास्य की यह सूझ ही है।

महावीर ने तृष्णादोष और उसमे से पैदा होनेवाले दूसरे दोषो को निर्मूल करने की दृष्टि से महती साधना की। बुद्ध ने भी अपने ढंग से वैसी ही साधना की। परन्तु सामान्य समाज ने उसमे से इतना ही अर्थ लिया कि तृष्णा, हिंसा, भय आदि दोष दूर करने चाहिए। लोगो की दोषो को दूर करने की वृत्ति ने 'यह मत करो, वह मत करो' ऐसे अनेकविध निवर्तक

या नकारात्मक धर्मों को पोसा, विकसित किया, और विधायक---भावात्मक धर्म का विकास साधने का पक्ष प्रायः समग्र देश में गौण बन गया। ऐसी दशा मे महायान भावना का उदय हुआ। अशोक की धर्मलिपियो में इसका दर्शन होता है। इसके पश्चात् तो अनेक भिक्षुक अपने-अपने ढग से इस भावना के द्वारा प्रवर्तकधर्म का विकास साधने लगे। छठी शती के गुजरात मे होनेवाले शान्तिदेव ने यहा तक कह दिया कि दुनिया दुःखी हो और हम मोक्ष की इच्छा रखें, ऐसा अरसिक मोक्ष किस काम का? मध्यकाल तथा उसके बाद के भारत मे अनेक सन्त, विचारक और धर्म-दृष्टि के शोधक महात्मा हुए हैं, परन्तु हमने अपने ही जीवन मे धर्म-दृष्टि का जो ऊर्ध्वीकरण देखा है और अब भी देखते हैं, वह आज तक विश्व मे धर्म-दृष्टि के होनेवाले विकास का सर्वोपरि सोपान है ऐसा ज्ञात हुए बिना नही रहता। (द० अ० चिं० भा० १, पृ० ७२-७५)

८. दो धर्म-संस्थाएँ : गृहस्थाश्रम-केन्द्रित और संन्यास-केन्द्रित

हमारे देश मे मुख्यतया दो प्रकार की धर्म-सस्थाएँ रही है, जिनकी जडे तथागत बुद्ध और निर्ग्रंथनाथ महावीर से भी पुरानी है। इनमे से एक गृहस्थाश्रम-केद्रित है और दूसरी है सन्यास व परिव्रज्या-केद्रित। पहली सस्था का पोषण और सवर्धन मुख्यतया वैदिक ब्राह्मणो के द्वारा हुआ है, जिनका धर्म-व्यवसाय गृह्य तथा श्रौत यज्ञयागादि एव तदनुकूल सस्कारो को लक्ष्य करके चलता रहा है।

दूसरी सस्था शुरू मे और मुख्यतया ब्राह्मणेतर यानी वैदिकेतर, खासकर कर्मकाडी ब्राह्मणेतर वर्ग के द्वारा आविर्भूत हुई है। आज तो हम चार आश्रम के नाम से इतने अधिक सुपरिचित हैं कि हर कोई यह समझता है कि भारतीय प्रजा पहले ही से चतुराश्रम सस्था की उपासक रही है। पर वास्तव मे ऐसा नही है। गृहस्थाश्रम-केद्रित और सन्यासाश्रम-केंद्रित दोनो सस्थाओ के पारस्परिक सघर्ष तथा आचार-विचार के आदान-प्रदान मे से यह चतुराश्रम सस्था का विचार व आचार स्थिर हुआ है।

जो गृहस्थाश्रम-केंद्रित सस्था को जीवन का प्रधान अङ्ग समझते थे वे सन्यास का विरोध ही नही, अनादर तक करते थे। इस विषय मे गोभिल

गृह्यसूत्र देखना चाहिये तथा शकर-दिग्विजय । हम इस सस्था के समर्थन का इतिहास शतपथ ब्राह्मण, महाभारत तथा पूर्वपक्ष रूप से न्यायभाष्य तक मे पाते हैं । दूसरी ओर से सन्यास-केन्द्रित सस्था के पक्षपाती सन्यास पर इतना अधिक भार देते थे कि मानो समाज का जीवन-सर्वस्व ही वह हो । ब्राह्मण लोग वेद और वेदाश्रित कर्मकाडो के आश्रय से जीवन व्यतीत करते रहे, जो गृहस्थो के द्वारा गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है । इसलिये वे गृहस्थाश्रम की प्रधानता, गुणवत्ता तथा सर्वोपयोगिता पर भार देते आए । जिनके लिये वेदाश्रित कर्मकाण्डो का जीवन-पथ सीधे तौर से खुला न था और जो विद्या-रुचि तथा धर्म-रुचिवाले भी थे, उन्होने धर्म-जीवन के अन्य द्वार खोले, जिनमे से क्रमश आरण्यक धर्म, तापस-धर्म, या टैगोर की भाषा मे 'तपोवन' की सस्कृति का विकास हुआ है, जो सन्तसस्कृति का मूल है । ऐसे भी वैदिक ब्राह्मण होते गए जो सन्तसस्कृति के मुख्य स्तम्भ भी माने जाते हैं । दूसरी तरफ से वेद तथा वेदाश्रित कर्मकाण्डो मे सीधा भाग ले सकने का अधिकार न रखनेवाले अनेक ऐसे ब्राह्मणेतर भी हुए हैं जिन्होने गृहस्थाश्रम-केन्द्रित धर्म-सस्था को ही प्रधानता दी है । पर इतना निश्चित है कि अन्त मे दोनो सस्थाओ का समन्वय चतुराश्रम के रूप मे ही हुआ है। आज कट्टर कर्मकाण्डी मीमासक ब्राह्मण भी सन्यास की अवगणना कर नही सकता । इसी तरह सन्यास का अत्यन्त पक्षपाती भी गृहस्थाश्रम की उपयोगिता से इन्कार नही कर सकता ।

(द० औ० चि० ख० १, पृ० ३८-३९)

९. धर्म और बुद्धि

आज तक किसी विचारक ने यह नही कहा कि धर्म का उत्पाद और विकास बुद्धि के सिवाय और भी किसी तत्त्व से हो सकता है । प्रत्येक धर्म-सप्रदाय का इतिहास यही कहता है कि अमुक बुद्धिमान् पुरुषो के द्वारा ही उस धर्म की उत्पत्ति या शुद्धि हुई है । धर्म के इतिहास और उसके सचालक के व्यावहारिक जीवन को देखकर हम केवल एक ही नतीजा निकाल सकते हैं कि बुद्धितत्त्व ही धर्म का उत्पादक, उसका संशोधक, पोषक और प्रचारक रहा है और रह सकता है ।

क्या धर्म और बुद्धि में विरोध है ? इसके उत्तर मे सक्षेप में इतना कहा जा सकता है उनके बीच कोई विरोध नही है और न हो सकता है। यदि सचमुच ही किसी धर्म मे इनका विरोध माना जाए तो हम यही कहेंगे कि उस बुद्धि-विरोधी धर्म से हमे कोई मतलब नही। ऐसे धर्म को अगीकार करने की अपेक्षा उसको अगीकार न करने मे ही जीवन सुखी और विकसित रह सकता है।

(द० औ० चिं० ख० १, पृ० १३)

१०. धर्म और विचार

विचार ही धर्म का पिता, उसका मित्र और उसकी प्रजा है। जिस मे विचार न हो उसमे धर्म की उत्पत्ति सम्भव नही। धर्म के जीवन और प्रसग्ण के साथ विचार होता ही है। जो धर्म विचारो को उद्बुद्ध न करे और उनका पोषण न करे वह अपनी आत्मा खो देता है। अतएव धर्म विषयक विचारणा या परीक्षा की भी परीक्षा होती रहे तो परिणाम में वह लाभदायी ही है।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० ४९)

११. धर्म और संस्कृति के बीच अन्तर

धर्म का सच्चा अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखता को छोडकर—वासनाओ के पाश से हटकर—शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यही है यथार्थ धर्म। अगर ऐमा धर्म सचमुच जीवन मे प्रकट हो रहा हो तो उसके बाह्य साधन भी—चाहे वे एक या दूसरे रूप मे अनेक प्रकार के क्यों न हो—धर्म कहे जा सकते है। पर यदि वासनाओ के पाश से मुक्ति न हो या मुक्ति का प्रयत्न भी न हो, तो बाह्य साधन कैसे भी क्यो न हो, वे धर्म-कोटि में कभी आ नही सकते। बल्कि वे सभी साधन अधर्म ही बन जाते हैं। साराश यह कि धर्म का मुख्य मतलब सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह-जैसे आध्यात्मिक सद्गुणो से है। सच्चे अर्थ में धर्म कोई बाह्य वस्तु नही है। तो भी वह बाह्य जीवन और व्यवहार के द्वारा ही प्रकट होता है। धर्म को यदि आत्मा

कहें, तो बाह्य जीवन और सामाजिक सब व्यवहारो को देह कहना चाहिए।

धर्म और संस्कृति मे वास्तविक रूप मे कोई अन्तर होना नही चाहिए। जो व्यक्ति या जो समाज सस्कृत माना जाता हो, वह यदि धर्म-पराङमुख है, तो फिर जगलीपन से सस्कृति मे विशेपता क्या ? इस तरह वास्तव मे मानव-सस्कृति का अर्थ तो धार्मिक या न्याय-सम्पन्न जीवन-व्यवहार ही है। परन्तु सामान्य जगत् मे सस्कृति का यह अर्थ नही लिया जाता। लोग सस्कृति से मानवकृत विविध कलाएँ, विविध आविष्कार और विविध विद्याएँ ग्रहण करते हैं। पर ये कलाएँ, ये आविष्कार, ये विद्याएँ हमेशा मानव-कल्याण की दृष्टि या वृत्ति से ही प्रकट होती हैं, ऐसा कोई नियम नही है। हम इतिहास से जानते है कि अनेक कलाओ, अनेक आविष्कारो और अनेक विद्याओ के पीछे हमेशा मानव-कल्याण का कोई शुद्ध उद्देश्य नही होता है। फिर भी ये चीजे समाज मे आती है और समाज भी इनका स्वागत पूरे हृदय से करता है। इस तरह हम देखते है और व्यवहार मे पाते है कि जो वस्तु मानवीय बुद्धि और एकाग्र प्रयत्न के द्वारा निर्मित होती है और मानव-समाज को पुराने स्तर से नए स्तर पर लाती है, वह सस्कृति की कोटि मे आती है। इसके साथ शुद्ध धर्म का कोई अनिवार्य सबन्ध हो, ऐसा नियम नही है। यही कारण है कि सस्कृत कही और मानी जानेवाली जातियाँ भी अनेकधा धर्म-पराङमुख पाई जाती हैं।

(द० औ० चि० ख० १, पृ० ९)

१२. धर्म और नीति के बीच अन्तर

जो बन्धन या कर्तव्य भय अथवा स्वार्थमूलक होता है वह नीति, और जो कर्तव्य भय या स्वार्थमूलक नही, परन्तु शुद्ध कर्तव्य के लिए ही होता है और जो कर्तव्य मात्र योग्यता पर अवलम्बित होता है वह धर्म। नीति और धर्मके बीच का यह अन्तर कुछ नगण्य नही है। यदि हम तनिक गहराई से सोचे तो स्पष्ट दिखाई देगा कि नीति समाज के धारण-पोषण के लिए आवश्यक होने पर भी उससे समाज का सशोधन नही होता। सशोधन अर्थात् शुद्धि और शुद्धि यानी सच्चा विकास—यह समझ यदि वास्तविक हो तो ऐसा कहना चाहिए कि वैसा विकास धर्म पर ही आधारित

है। जिस समाज मे इस धर्म का जितने अधिक अशो में अनुसरण होता हो वह समाज उतने अश में अधिक अच्छा या सस्कृत होगा।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० १४४)

१३. धर्म और पंथ

पहले मे अर्थात् धर्म मे अन्तर्दर्शन होता है, अत वह आत्मा के भीतर से आता है और उसीका दर्शन कराता है अथवा उस ओर मनुष्य को मोडता है, जबकि दूसरे मे अर्थात् पथ मे बहिर्दर्शन होता है, वह बाहरी वातावरण और देखादेखी मे से ही पैदा होता है। फलत उसकी दृष्टि बाहर की तरफ़ लगी रहती है और वह मनुष्य को बाहर की ओर ही देखने मे प्रवृत्त रहता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी होने से आत्मा के गुणो पर ही उसका आधार होता है, जबकि पन्थ रूपजीवी और रूपावलम्बी होने से उसका सारा आधार बाहरी रूपरग और ठाटबाट पर होता है।

पहले मे से एकता और अभेद के भाव उठते हैं और समानता की ऊर्मियां उछलती हैं, जबकि दूसरे मे भेद और विषमता की दरारें पडती है और वे बढती जाती है। फलत पहले मे मनुष्य दूसरे के और अपने बीच रहे हुए भेद को भूलकर अभेद की ओर झुकता है और दूसरे के दुःख मे अपना सुख भूल जाता है। धर्म मे ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवन की झाकी होती है, अत. उसकी व्यापकता के आगे मनुष्य को अपना एकाकी रूप अल्प-सा प्रतीत होता है, जबकि पन्थ मे इससे उलटा है। उसमें गुण या वैभव न हो तो भी मनुष्य अपने-आपको दूसरो से बडा मानता है और वैसा मनवाने का यत्न भी वह करता है। उसमे यदि नम्रता हो तो वह बनावटी होती है, और इसीलिए वह मनुष्य मे बड़प्पन का ही ख्याल पैदा करती है। उसकी नम्रता प्रतिष्ठा और महत्ता के लिए ही होती है। सच्चे जीवन की झाकी न होने से और गुणों की अनन्तता का तथा अपनी पामरता का भान न होने से पन्थ मे पडा मनुष्य अपनी लघुता का अनुभव कर ही नही सकता, केवल वह लघुता का दिखावा करता है।

धर्म मे सत्यगामिनी दृष्टि होने से उसमे सभी दिशाओं से देखने-

समझने का धीरज और सभी पक्षो को सह लेने की उदारता होती है। पन्थ मे ऐसा नही होता। उसमे दृष्टि सत्याभासी होने से वह एक ही—और वह भी अपने ही—पक्ष को सर्वांशत सत्य मानकर दूसरी ओर देखने-समझने की वृत्ति ही नही रखती और विरोधी पक्षो को सह लेने की अथवा उनको समझने की उदारता भी उसमे नही होती।

धर्म मे अपना दोष-दर्शन और दूसरो के गुणो का दर्शन मुख्य होता है, जबकि पन्थ मे इससे विपरीत बात होती है। पन्थवाला मनुष्य दूसरो के गुणो की अपेक्षा उनके दोषो को ही खासतौर पर देखा करता है और उन्हीका बखान किया करता है। उसकी दृष्टि में अपने दोषो की अपेक्षा गुण ही अधिक बसते हैं और उन्हीकी डुगडुगी वह बजाया करता है, अथवा तो उसकी नज़र मे अपने दोष चढते ही नही।

धर्मगामी अथवा धर्मनिष्ठ मनुष्य भगवान् को अपने भीतर और अपने आसपास देखता है, जिससे भूल या पाप करने पर 'भगवान् देख लेगें' ऐसा भय उसे रहा करता है, वह मन-ही-मन लज्जित होता है; जबकि पन्थगामी मनुष्य मे 'प्रभु वैकुण्ठ मे या मुक्तिस्थान मे रहते है' ऐसी श्रद्धा होती है, जिससे भूल करने पर भगवान् से अपने-आपको जुदा मानकर, मानो कोई जानता ही न हो उस प्रकार, न तो वह किसीसे डरता है और न लज्जित ही होता है। उसे भूल का दु ख महसूस नही होता और अगर होता भी है तो पुन भूल न करने के लिए नही।

धर्म मे आधारस्तम्भ चारित्र्य होने से जाति, लिंग, आयु, वेश, चिह्न, भाषा तथा दूसरी वैसी बाहरी बातो को स्थान ही नही है; जबकि पन्थ मे इन्ही बाह्य वस्तुओ का स्थान होता है और इनकी मुख्यता मे चारित्र्य दब जाता है। बहुत बार तो ऐसा भी होता है कि लोगो मे जिसकी प्रतिष्ठा न हो वैसी जाति, वैसे लिंग, वैसी उम्र और वैसे वेश अथवा चिह्नवाले में यदि खासा चारित्र्य हो तो भी पथ में पड़ा हुआ मनुष्य उसे लक्ष में लेता ही नही और बहुत बार तो उसका तिरस्कार भी करता है।

धर्म में विश्व ही एकमात्र चौका या विशाल कुटुम्ब है। उसमे दूसरा कोई छोटा-बडा चौका न होने से छूतछात जैसी चीज़ ही नही होती, और होती है तो वह इतनी ही कि उसमे अपना ही पाप केवल अस्पृश्य लगता

है। इसके विपरीत पन्थ मे चौकावृत्ति इतनी प्रबल होती है कि जहाँ देखो वहाँ छुआछूत की गन्ध आती है और फिर भी चौका-वृत्ति की नाक अपने पाप की दुर्गन्ध सूघ ही नही सकती ! उसे तो जो उसने मान लिया है वही खुशबूदार और स्वय जिस पर चलता हो वही मार्ग श्रेष्ठ लगता है। इसके परिणामस्वरूप उसे अन्यत्र सर्वत्र बदबू और दूसरे में अपने पथ की अपेक्षा ओछापन मालूम होता है।

सक्षेप में कहे तो धर्म मनुष्य को रात-दिन पोषित होनेवाले भेद-सस्कारो मे से अभेद की ओर ले जाता है, तो पन्थ इन भेदो मे अधिकाधिक वृद्धि करता है और कभी दैवयोग से अभेद का अवसर कोई उपस्थित करे तो उससे उसको दु ख होता है। धर्म मे सासारिक छोटे-मोटे झगड़े (जर, जोरू, जमीन के तथा मान-अपमान के झगडे) भी शान्त हो जाते हैं, जबकि पन्थ मे धर्म के नाम पर और धार्मिक भावना के बल पर ही झगड़े पैदा होते हैं। झगड़े के बिना धर्म की रक्षा ही नही दिखती !

पन्थ थे, है और रहेगे, परन्तु उनमे सुधारने जैसा अथवा करने जैसा कुछ हो तो वह इतना ही है कि उसमेसे बिछुडी हुई धर्म की आत्मा को उसमे पुन. स्थापित किया जाय। इसलिए हम चाहे जिस पन्थ के हो, परन्तु धर्म के तत्त्वो को आत्मसात् करके ही हम उस पन्थ का अनुगमन करे, अहिंसा के लिए हिंसा न करे और सत्य के लिए असत्य न बोले। पन्थ मे धर्म के प्राण फूकने की खास शर्त यह है कि दृष्टि सत्याग्रही हो। सत्याग्रही होने के लक्षण सक्षेप मे इस प्रकार हैं :—

(१) हम स्वय जो मानते या करते हो उसकी पूरी समझ हमे होनी चाहिए और अपनी समझ पर हमें इतना अधिक विश्वास होना चाहिए कि दूसरों को समझाने की आवश्यकता उपस्थित हो तो वह बराबर समझाई जा सके।

(२) अपनी मान्यता की सही समझ और यथार्थ विश्वास की कसौटी यह है कि दूसरो को समझाते समय तनिक भी आवेश अथवा क्रोध न आने पाये और उसकी (अपनी मान्यता और विश्वास की) विशेषता के साथ ही यदि उसमें कोई कमी दिखाई दे तो उसका नि.सकोच स्वीकार करना चाहिए।

के तत्त्व-चिन्तन की आद्य भूमि ग्रीस के चिन्तको मे भी परस्पर विरोधी अनेक सम्प्रदाय रहे हैं, पर भारतीय तत्त्व-चिन्तको के सम्प्रदाय की कथा कुछ निराली ही है। इस देश के सम्प्रदाय मूल में धर्मप्राण और धर्मजीवी रहे हैं। सभी सम्प्रदायो ने तत्त्व-चिन्तन को आश्रय ही नही दिया, बल्कि उसके विकास और विस्तार मे भी बहुत कुछ किया है। एक तरह से भारतीय तत्त्व-चिन्तन का चमत्कारपूर्ण बौद्धिक प्रदेश जुदे-जुदे सम्प्रदायो के प्रयत्न का ही परिणाम है। पर हमे जो सोचना है वह तो यह है कि हरएक सम्प्रदाय अपने जिन मन्तव्यो पर सबल विश्वास रखता है और जिन मन्तव्यो को दूसरा विरोधी सम्प्रदाय कतई मानने को तैयार नही है वे मन्तव्य साम्प्रदायिक विश्वास या साम्प्रदायिक भावना के ही विषय माने जा सकते हैं, साक्षात्कार के विषय नही। इस तरह साक्षात्कार का सामान्य स्रोत सम्प्रदायो की भूमि पर ब्यौरे के विशेष प्रवाहो मे विभाजित होते ही विश्वास और प्रतीति का रूप धारण करने लगता है।

जब साक्षात्कार विश्वास रूप मे परिणत हुआ तब उस विश्वास को स्थापित रखने और उसका समर्थन करने के लिए सभी सम्प्रदायों को कल्पनाओ का, दलीलो का तथा तर्कों का सहारा लेना पड़ा। सभी साम्प्रदायिक तत्त्व-चिन्तक अपने-अपने विश्वास की पुष्टि के लिए कल्पनाओ का सहारा पूरे तौर से लेते रहे, फिर भी यह मानते रहे कि हम और हमारा सम्प्रदाय जो कुछ मानते हैं वह सब कल्पना नही, अपितु साक्षात्कार है। इस तरह कल्पनाओ का तथा सत्य-असत्य और अर्धसत्य तर्कों का समावेश भी दर्शन के अर्थ मे हो गया। एक तरफ से जहा सम्प्रदाय ने मूल दर्शन अर्थात् साक्षात्कार की रक्षा की और उसे स्पष्ट करने के लिये अनेक प्रकार के चिन्तन को चालू रखा तथा उसे व्यक्त करने की अनेक मनोरम कल्पनाएँ की, वहा दूसरी तरफ से सम्प्रदाय की बाड पर बढने तथा फूलने-फलनेवाली तत्त्व-चिन्तन की बेल इतनी पराश्रित हो गई कि उसे सम्प्रदाय के सिवाय कोई दूसरा सहारा ही न रहा। फलतः पर्देबन्द पधिनियो की तरह तत्त्व-चिन्तन की बेल भी कोमल और सकुचित दृष्टि-वाली बन गई।

(द० औ० चि० खं० १, पृ० ६७-६९)

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

दृष्टि अर्थात् दर्शन। दर्शन का सामान्य अर्थ देखना होता है। आंख से जो-जो बोध होता है उसे 'देखना' या 'दर्शन' कहते हैं। परन्तु इस स्थान पर दृष्टि या दर्शन का अर्थ मात्र 'नेत्रजन्य बोध' ही नही है; यहा तो उसका अर्थ अत्यन्त विशाल है। किसी भी इन्द्रिय से होनेवाला ज्ञान यहा दृष्टि अथवा दर्शन से अभिप्रेत है। इतना ही नही, मन की सहायता के बिना यदि आत्मा को ज्ञान शक्य हो तो वैसा ज्ञान भी यहां दृष्टि अथवा दर्शन रूप से अभिप्रेत है। सारांश यह कि सम्यग्दृष्टि अर्थात् किसी भी प्रकार का सम्यक् बोध और मिथ्यादृष्टि अर्थात् प्रत्येक प्रकार का मिथ्या बोध।

देह धारण करना, श्वासोच्छ्वास लेना, ज्ञानेन्द्रियो से जानना और कर्मेन्द्रियो से काम करना—इतना ही मात्र जीवन नही है, परन्तु मन और चेतन की भिन्न-भिन्न भूमिकाओ में सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अनेक प्रकार के सवेदनो का अनुभव करना भी जीवन है। ऐसे व्यापक जीवन के पहलू भी अनेक हैं। इन सब पहलुओ को मार्गदर्शन करानेवाली और जीवन को चलानेवाली 'दृष्टि' है। यदि दृष्टि सही हो तो उसके मार्गदर्शन मे जीवित जीवन कलकरहित होगा, और यदि दृष्टि भ्रान्त अथवा उल्टी हो तो उसके अनुसार जीवन भी कलकयुक्त ही होगा। अत. यह विचारना चाहिए कि सही दृष्टि क्या है और ग़लत दृष्टि किसे कहते हैं।

कई शब्द इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक होते हैं, तो कई शब्द मनोगम्य पदार्थ के ही बोधक होते हैं। जहा शब्द का अर्थ इन्द्रियगम्य हो वहा उसके अर्थ की बोधकता में सशोधन-परिवर्तन करने का कार्य सरल होता है, परन्तु जहा शब्द का अर्थ अतीन्द्रिय या मनोगम्य मात्र हो वहा अर्थ में कमी-बेशी का काम बहुत कठिन होता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि शब्द चिड़िया या घोड़ा आदि शब्दो की भाँति इन्द्रियगम्य वस्तु के द्योतक न होकर मनो-गम्य अथवा अतीन्द्रिय भावों के सूचक हैं। इसलिए इन शब्दो के यथार्थ अर्थ की तरफ जाने का अथवा परम्परा से प्रथम अवगत अर्थ में संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन करने का काम बहुत कठिन होने से विवेक और प्रयत्नसाध्य है।

जीवनमात्र में चेतनतत्त्व के अस्तित्व में श्रद्धा रखना और वैसी श्रद्धा

के परिणामस्वरूप चेतन पर छाये हुए अज्ञान एवं राग-द्वेषादि के आवरणों को चारित्र के सम्यक् पुरुषार्थ से हटाने की शक्यता के चारित्रलक्षी तत्त्व में श्रद्धा रखना सम्यग्दृष्टि अथवा आस्तिकता है। इससे विपरीत अर्थात् चेतनतत्त्व में अथवा चारित्रलक्षी तत्त्व मे श्रद्धा न रखना मिथ्यादृष्टि अथवा नास्तिकता है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का अर्थ, विकासक्रम को देखते हुए, अनुक्रम से तत्त्व-विषयक श्रद्धा और अश्रद्धा ऐसा ही फलित होता है। वाचक उमास्वाति नामक जैन आचार्य ने सम्यग्दृष्टि का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि आध्यात्मिक और चारित्रलक्षी तत्त्वो मे श्रद्धा रखना ही सम्यग्दर्शन है। हम देखते हैं कि इस परिभाषा मे किसी एक परम्परा के बाह्य आचार-विचार की प्रणालिकाओ का स्पर्श तक नही है, केवल तत्त्व के वास्तविक स्वरूप मे श्रद्धा रखने का ही निर्देश है।

तत्त्वश्रद्धा ही सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नही है। अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है, तत्त्वश्रद्धा तो तत्त्वसाक्षात्कार का एक सोपान मात्र है। वह सोपान दृढ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है, तब साधक जीवनमात्र मे चेतनतत्त्व का समान भाव से अनुभव करता है और चारित्रलक्षी तत्त्व केवल श्रद्धा के विषय न रहकर जीवन मे ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत हो जाते हैं, एकरस हो जाते हैं। इसी का नाम है तत्त्वसाक्षात्कार और यही सम्यग्दृष्टि शब्द का अन्तिम तथा एकमात्र अर्थ है।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० ९८-१०६)

: २ :

जैनधर्म का प्राण

ब्राह्मण और श्रमण परम्परा : वैषम्य और साम्य दृष्टि

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में, खासकर महावीर के समय मे, निग्गठ धम्म–निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमणधर्म भी कहलाता है। अतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैनधर्म ही श्रमणधर्म नही है, श्रमणधर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूतकाल मे थी और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखाएँ जीवित हैं। निर्ग्रन्थ धर्म या जैनधर्म में श्रमणधर्म के सामान्य लक्षणो के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसको श्रमणधर्म की अन्य शाखाओ से पृथक् करती हैं। जैनधर्म के आचार-विचार की ऐसी विशेषताओ को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारभ मे ही श्रमणधर्म की विशेषताओ को भलीभाँति जान लें, जो उसे ब्राह्मणधर्म से अलग करती हैं।

प्राचीन भारतीय सस्कृति का पट अनेक व विविधरगी है, जिसमें अनेक धर्म-परपराओ के रङ्ग मिश्रित हैं। इसमें मुख्यतया ध्यान मे आनेवाली दो धर्म-परम्पराएँ हैं—(१) ब्राह्मण, (२) श्रमण। इन दो परम्पराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नो को न उठाकर केवल ऐसे मुद्दों पर थोडी-सी चर्चा की जाती है, जो सर्वसंमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमणधर्म की मूल भित्ति को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैनधर्म को समझना सरल हो जाता है।

ब्राह्मण और श्रमण परम्पराओ के बीच छोटे-बडे अनेक विषयों में मौलिक अंतर है, पर उस अतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण–वैदिक परम्परा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जबकि श्रमण परम्परा

साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातो में देखा जाता है–(१) समाजविषयक, (२) साध्यविषयक और (३) प्राणि-जगत् के प्रति दृष्टिविषयक। समाजविषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज-रचना मे तथा धर्माधिकार मे ब्राह्मण वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मणधर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र, पशु आदि के नानाविध लाभो मे तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलो के लाभो मे समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं[1]। इस धर्म मे पशु-पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान मे बलि किये जानेवाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनो बातो मे श्रमणधर्म का साम्य इस प्रकार है: श्रमणधर्म समाज मे किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाजरचना तथा धर्माधिकार मे जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न करके गुणकर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि मे सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हरएक वर्ण का पुरुष या स्त्री समानरूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमणधर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मणधर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक-पारलौकिक नाना-विध सब लाभो का त्याग सिद्ध करनेवाली ऐसी स्थिति, जिसमें पूर्ण साम्य

---

१. "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्या-सख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणा कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरपि को यत्नः कर्मसूपपद्यते ।"—तैत्ति० १—११ । शाकरभाष्य (पूना आप्टेकर क०) पृ० ३५३ । यही बात "परिणामतापसस्कारैः गुणवृत्तिविरोधात्" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। साख्यतत्त्वकौमुदी में भी है, जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

प्रकट होता है और कोई किसीसे कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव-जगत् के प्रति श्रमणधर्म की दृष्टि पूर्ण आत्मसाम्य की है, जिसमें न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट-पतंग आदि जन्तु का ही समावेश होता है, अपितु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीववर्ग का भी समावेश होता है। इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जानेवाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वधमात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परम्परा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जबकि श्रमण परम्परा 'सम'—साम्य, शम और श्रम के आसपास शुरू एवं विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों मे से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं : (१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञयागादि कर्म। वैदिक मन्त्रो एव सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतिया और प्रार्थनाएँ की जाती हैं वे ब्रह्मन् कहलाती हैं। इसी तरह वैदिक मन्त्रो के विनियोगवाला यज्ञयागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मन्त्रो और सूक्तो का पाठ करनेवाला पुरोहितवर्ग और यज्ञयागादि कर्म करानेवाला पुरोहितवर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मन्त्रो के द्वारा की जानेवाली स्तुति-प्रार्थना एवं यज्ञ-यागादि कर्म की अतिप्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ पुरोहितवर्ग का समाज मे एव तत्कालीन धर्म मे ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे वह ब्राह्मण वर्ग अपने-आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज मे भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई, जिसके आधार पर वर्णभेद की मान्यता रूढ हुई और कहा गया कि समाज-पुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अग हैं। इसके विपरीत श्रमणधर्म यह मानता-मनवाता था कि सभी स्त्री-पुरुष सत्कर्म एव धर्मपद के समानरूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एव लिंगभेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है।

यह सामाजिक एव धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण-धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी, उसी तरह साध्यविषयक दोनों की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमणधर्म ऐहिक या पार-लौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मानकर निःश्रेयस को ही एकमात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह

साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिसमे अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञयागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमणधर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनो धर्मों के बीच पद-पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्रों वर्षों के इतिहास मे लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मणकाल मे भी था और बुद्ध एव महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतजलि ने अपनी वाणी मे व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतजलि 'शाश्वत'–जन्मसिद्ध विरोधवाले अहि-नकुल, गो-व्याघ्र जैसे द्वन्द्वो के उदाहरण देते हुए साथ-साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते हैं।[1] यह ठीक है कि हजार प्रयत्न करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नही हो सकता, जबकि प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना सभव है और इतिहास मे कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हैं, जिनमे ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नही जाता। परन्तु पतजलि का ब्राह्मण-श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्ति ऐसे सभव है जो ऐसे विरोध से पर हुए हों या हो सकते हो, परन्तु सारा ब्राह्मणवर्ग या सारा श्रमणवर्ग मौलिक विरोध से पर नही है, यही पतजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न होकर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतजलि से अनेक शताब्दियों के बाद होनेवाले जैन आचार्य हेमचद्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण का उदाहरण देकर पतजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है।[2] आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नही कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमणवर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

१. महाभाष्य २.४.९।
२. सिद्धहैम० ३. १. १४१।

परस्पर प्रभाव और समन्वय

ब्राह्मण और श्रमण परम्परा परस्पर एक-दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नही है। छोटी-मोटी बातो में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ श्रमणधर्म की साम्यदृष्टि-मूलक अहिंसा-भावना का ब्राह्मण परम्परा पर क्रमश. इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओ का विषयमात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त-सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रता." सिद्धात का पूरा आग्रह रखनेवाली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परम्पराओ ने ब्राह्मण परम्परा के प्राणभूत वेदविषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरुपद का आत्यतिक विरोध नही किया, वे परम्पराएँ क्रमश ब्राह्मणधर्म के सर्व-सग्राहक क्षेत्र मे एक या दूसरे रूप मे मिल गई हैं। इसके विपरीत जैन, बौद्ध आदि जिन परम्पराओं ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु-पद के विरुद्ध आत्यतिक आग्रह रखा वे परम्पराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मणधर्म से अलग ही रही हैं, फिर भी उनके शास्त्र एव निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परम्परा की लोकसग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप मे प्रभाव अवश्य पड़ा है।

श्रमण परम्परा के प्रवर्तक

श्रमणधर्म के मूल प्रवर्तक कौन-कौन थे, वे कहाँ-कहाँ और कब हुए इसका यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है, पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो नि.शक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदिविद्वान् कपिल ये साम्यधर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अधकारग्रस्त होने पर भी पौराणिक परम्परा मे से उनका नाम लुप्त नही हुआ है। ब्राह्मण पुराण-ग्रन्थो मे ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप मे है सही, पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परम्परा मे ही है; जबकि कपिल.का ऋषिरूप से निर्देश जैन-कथा साहित्य में है, फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो साख्य परम्परा मे तथा साख्य-मूलक पुराण ग्रथों में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना

और धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थी, जिनमे से कोई बाह्य तप पर, कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्त-शुद्धि या असंगता पर अधिक बल देती थी। पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धिमूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसीमेसे अगार–गृह–ग्रन्थ या परिग्रह बंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जबतक परिवार एव परिग्रह का बधन हो तबतक कभी पूर्ण अहिसा या पूर्ण साम्य सिद्ध नही हो सकता, श्रमणधर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पडते हैं।

वीतरागता का आग्रह

अहिंसा की भावना के साथ-साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म मे ग्रथित तो हो ही गई थी, परन्तु साधको के मन मे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्म-शुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना सभव है ? इसीके उत्तर मे से यह विचार फलित हुआ कि राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियो पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यो न हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे 'जिन' अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा मे 'जिन' रूप से प्रसिद्ध रहे हैं, परन्तु आज जिनकथित जैन-धर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग-द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है। धर्म-विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आनेवाली नई-नई धर्म की अवस्थाओ में उस-उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैनधर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमणधर्म की साम्यदृष्टि

अब हमें देखना यह है कि श्रमणधर्म की प्राणभूत साम्यभावना का

जैन परम्परा में क्या स्थान है ? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांगसूत्र कहलाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार-विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र मे देखने को मिलता है। उसमे जो कुछ कहा गया है उस सबमें साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का सम्बन्ध साम्य, समता या सम से है। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो-जो आचार-विचार हों वे सब सामाइय—सामायिक रूप से जैन परम्परा मे स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परम्परा मे भी गृहस्थ और त्यागी सबके लिए छः आवश्यक कर्म बतलाए हैं, जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नही है। गृहस्थ या त्यागी अपने-अपने अधिकारानुसार जब-जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब-तब वह 'करेमि भंते ! सामाइय' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन् ! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे पद मे किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्य योग अर्थात् पापव्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवी सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अतिविस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनो ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परम्पराओं में पूर्वकाल से साम्य-दृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसीका आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान-स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दो के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचाराग की साम्यभावना मूल मे एक ही है, फिर भी वह परम्परा-भेद से अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्यभावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से

गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जबकि आचारागसूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न करके यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिसक शस्त्रयुद्ध नही कर सकते, बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।[1] इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमे कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य-जीवन स्वीकार किया, पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने की सोची। गाधीजी ने गीता और आचाराग आदि में प्रतिपादित साम्यभाव को अपने जीवन मे यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानवसहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्त-शुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने सन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ-विकास गाधीजी ने समाज मे प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद

जैन परम्परा का साम्यदृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य-दृष्टि को ही ब्राह्मण परम्परा मे लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टि-पोषक सारे आचार-विचार को 'ब्रह्मचर्य'—'बम्भचेराइ' कहा है, जैसाकि बौद्ध परम्परा ने मैत्री आदि भावनाओ को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं, पर धम्मपद[2] और शातिपर्व की तरह जैन ग्रन्थ[3] मे भी समत्व धारण करने-वाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परम्परा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है—(१) आचार मे और (२) विचार में। जैनधर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-

१. आचारांग १. ५. ३। २. ब्राह्मणवर्ग २६।
३. उत्तराध्ययन २५।

सूक्ष्म सब आचार साम्यदृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन-परम्परा मान्य नहीं रखती। यद्यपि सब धार्मिक परम्पराओ ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है, पर जैन-परम्परा ने उस तत्त्व पर जितना बल दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है उतना बल और उतनी व्यापकता अन्य धर्म-परम्परा देखी मे नही जाती। मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतग, और वनस्पति ही नही, बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओ तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार मे साम्य दृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार-सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मानकर उसपर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका मे से ही भाषाप्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमश. विकास हुआ है। यह नही है कि अन्यान्य परम्पराओं मे अनेकान्तदृष्टि का स्थान ही न हो। मीमासक और कपिल दर्शन के उपरात न्यायदर्शन मे भी अनेकान्तवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्तदृष्टि के ही फल हैं, फिर भी जैन-परम्परा ने जैसे अहिसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्तदृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन-परम्परा मे आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नही है जिसपर अनेकान्तदृष्टि लागू न की गई हो या अनेकान्तदृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परम्पराओ के विद्वानों ने अनेकान्तदृष्टि को मानते हुए भी उसपर स्वतत्र साहित्य रचा नही है, जबकि जैन-परम्परा के विद्वानो ने उसके अगभूत स्याद्वाद, नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तबतक पूरा समझ में

आ नही सकता जबतक यह न बतलाया जाए कि हिंसा किस की होती है तथा हिंसा कौन व किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्याएँ जैन-परम्परा में फलित हुई है—(१) आत्मविद्या, (२) कर्मविद्या, (३) चरित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकातदृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुत-विद्या और प्रमाण-विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकात और तन्मूलक विद्याएँ ही जैनधर्म के प्राण हैं, जिसपर आगे सक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट-पतग पशु-पक्षी रूप मे हो या मानव रूप मे हो— सब तात्त्विक दृष्टि से समान हैं। यही जैन-आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल मे लाना—उसे यथासभव जीवन-व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र मे उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिसा है। आत्म-विद्या कहती है यदि जीवन-व्यवहार मे साम्य का अनुभव न हो तो आत्म-साम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारागसूत्र मे कहा गया है कि जैसे तुम अपने दु.ख का अनुभव करते हो वैसा ही परदु ख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से सवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नही।

जैसे आत्म-समानता के तात्त्विक विचार में से अहिसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन-परम्परा मे यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक, मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यो न हो, पर वह आगतुक है—कर्ममूलक है, वास्तविक नही है। अतएव क्षुद्र-से-क्षुद्र अवस्था मे पडा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानवकोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था मे जा सकता है, इतना ही नही बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बधनमुक्त हो सकता है। ऊँच-नीच गति या योनि

का एव सर्वथा मुक्ति का आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप से सब आत्माओ का स्वरूप सर्वथा एक-सा है, जो नैष्कर्म्य अवस्था मे पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

साख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातो मे जैन-परम्परा के साथ जो कुछ मतभेद हो, पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सब का पूर्ण ऐकमत्य है। आत्मा-द्वैतवादी औपनिषद परम्परा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नही पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप हैं। जो जीवों का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवो को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिए और अन्य के दु:ख को अपना दु:ख समझकर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओ के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अतर केवल इतना ही है कि पहली परपराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भद मानकर भी उन सबमे तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती हैं, जब कि अद्वैत परम्परा जीवात्माओ के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती हैं। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गतिवाले जीवों मे दिखाई देनेवाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखड ब्रह्म हैं, जबकि जैन-जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखड एक ब्रह्म मे से नाना जीव की सृष्टि हुई है जबकि दूसरी परम्पराओ के अनुसार जुदे-जुदे स्वतत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त मे से ही अद्वैत-मूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमश· विकसित हुआ जान पड़ता है, परन्तु अहिसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो, पर अहिसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या

अभेद का वास्तविक सवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष

जब तत्त्वत. सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमे परस्पर वैषम्य क्यो, तथा एक ही जीवात्मा मे काल-भेद से वैषम्य क्यो ? इस प्रश्न के उत्तर मे से ही कर्मविद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ-ही-साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एव न करने मे जीव ही स्वतन्त्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनो काल की पारस्परिक सगति कर्मवाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुत अज्ञान और राग-द्वेष ही कर्म है। अपने-पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन-परम्परा के अनुसार दर्शन मोह है। इसीको साख्य, बौद्ध आदि अन्य परम्पराओ मे अविद्या कहा है। अज्ञान-जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओ के कारण जो-जो वृत्तियां या जो-जो विकार पैदा होते है वे ही सक्षेप मे राग-द्वेष कहे गए है। यद्यपि राग-द्वेप ही हिंसा के प्रेरक हैं, पर वस्तुतः सबकी जड अज्ञान-दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परपराएं एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन-परिभाषा मे भावकर्म है और वह आत्मगत सस्कारविशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओ को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्टरूप अर्पित करता है। विशिष्टरूप से प्राप्त यह भौतिक परमाणुपुज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है, जो जन्मान्तर मे जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर-ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्मका विचार जैन-परम्परा की कर्मविद्या में है, और अन्य परम्परा की कर्मविद्या में वह नही है, परन्तु

सूक्ष्मता से देखनेवाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नही है। सांख्य-योग, वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तरगामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान, मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है, जो वास्तव में जैन-परम्परासमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान मे है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार मे और न्यूनाधिक विस्तार मे एव वर्गीकरण मे, जो हजारो वर्ष से जुदा-जुदा विचार-चिंतन करनेवाली परम्पराओ मे होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते हैं कि आत्मवादी सब परपराओ मे पुनर्जन्म के कारणरूप से कर्मतत्त्व का स्वीकार है और जन्मजन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय-वैशेषिक परम्परा, जिसमे ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नही है, उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्यकर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन मे स्थिर हुई तबसे अभीतक की बन्ध-मोक्षवादी भारतीय तत्त्व-चिंतकों की आत्मस्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी-कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन-मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिए सक्षेप मे बन्धमोक्षवादी मुख्य-मुख्य सभी परम्पराओ के मन्तव्यो को नीचे दिया जाता है। (१) जैन-परम्परा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर मे जुदा-जुदा है। वह स्वय शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल—सुख-दुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार सकोच-विस्तार धारण करता है। यही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल मे सासारिक सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान आदि शुभा-शुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है। (२) साख्य-योग परम्परा के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न है, पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। उस परम्परा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, सकोचविस्तारशील, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति-काल में उन भावों से रहित है। सांख्य-योग परंपरा

अन्त करण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष के मान लेती है। (३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक हैं, वह साख्य-योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है, फिर भी वह जैन-परम्परा की तरह वास्तविक रूप से कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैतवादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव मे नाना नही पर एक ही है। वह सांख्य-योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है, अतएव न तो वास्तव मे बद्ध है और न मुक्त। उसमे अन्त करण का बधमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्त्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञानक्षणपरम्परा रूप है, जो हृदय, इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रो मे एक साथ या क्रमश निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर से सक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन-परम्परासमत आत्मस्वरूप बन्धमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। साख्य-योगसमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतको की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवादसम्मत आत्मस्वरूप साख्य-योग की जीव-बहुत्वविषयक कल्पना का एक स्वरूप मे परिमार्जनमात्र है, जब कि न्याय-वैशेषिकसम्मत आत्मस्वरूप जैन और साख्ययोग की कल्पना का मिश्रण-मात्र है। बौद्धसम्मत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति मे चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म का सम्बन्ध कब और क्यों हुआ या ऐसा सम्बन्ध किसने किया ? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी-न-किसी तरह मे कर्म का सबध हुआ माना जाए तो चारित्र के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्मसबध क्यों नही होगा ? इन दो प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिक सभी

चिंतको ने लगभग एक-सा ही दिया है। साख्य-योग हो या वेदान्त, न्याय-वैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनो की तरह जैन-दर्शन का भी यही मन्तव्य है कि कर्म और आत्माका सम्बध अनादि है क्योकि उस सबध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है। सभीने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म, अविद्या या माया का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि है, फिर भी व्यक्ति रूप से वह सबध सादि है, क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन मे होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्धरूप प्रकट होता है उसमे पुन. कर्म या वासना उत्पन्न क्यो नही होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतको ने यो किया है कि आत्मा स्वभावत शुद्धि-पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणो का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या राग-द्वेष जैसे दोष जड से ही उच्छिन्न हो जाते है, अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व मे अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते है।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणो को दूर करना है, जो जैन-परिभाषा मे 'सवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और राग-द्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र मे दो ही बाते आती हैं: (१) आत्म-ज्ञान—विवेक-ख्याति, (२) माध्यस्थ्य या राग-द्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गए है।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन-परम्परा में अत्यत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्रप्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओ का, बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञान-भूमिकाओं का, आजीवक-परपराप्रसिद्ध मद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन-परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योगदृष्टियों का तुलनात्मक

अध्ययन बहुत रसप्रद एव उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ सभव नही। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध[1] लेखो से जान सकता है।

मै यहाँ उन चौदह गुणस्थानो का वर्णन न करके सक्षेप मे तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमे गुणस्थानो का समावेश हो जाता है। पहली भूमिका है बहिरात्म, जिसमे आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नही होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है, जिसमे आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर राग-द्वेष आदि क्लेश मद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाये रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्म, इसमे राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या

लोकविद्या मे लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव—चेतन और अजीव—अचेतन या जड इन दो तत्त्वो का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसीके द्वारा कभी पैदा हुए है और न कभी नाश पाते हैं, फिर भी स्वभाव मे परिणामान्तर पाते रहते है। ससार-काल मे चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालनेवाला द्रव्य एकमात्र जड-परमाणुपुज पुद्गल है, जो नानारूप मे चेतन के सबध मे आता है और उसकी शक्तियो को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी-न-कभी उन जड़ द्रव्यो के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती है। जड और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन-परपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना साख्य-योग, पुराण और बौद्ध आदि परपराओ की कल्पना से अनेक अशो मे मिलती-जुलती है।

जैन-परपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, साख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नही है, तथापि जैन-परपरासम्मत परमाणु का स्वरूप सांख्य-परंपरासम्मत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्याय-

---

१. 'भारतीय दर्शनोमा आध्यात्मिक विकासक्रम'—पुरातत्त्व १, पृ० १४९।

वैशेषिकसम्मत परमाणुस्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैनसम्मत परमाणु साख्यसम्मत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिकसम्मत परमाणु की तरह कूटस्थ नही है। इसीलिए जैसे एक ही साख्यसमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियो का उपादान बनती है वैसे ही जैनसम्मत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन-परपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नही मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल मे ही सदा भिन्नजातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसम्मत परमाणु वैशेषिकसम्मत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अन्त मे वह साख्यसम्मत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन-परपरा का अनत परमाणुवाद प्राचीन साख्यसम्मत पुरुषबहुत्वानुरूप प्रकृति-बहुत्ववाद से दूर नही है।

जैनमत और ईश्वर

जैन-परपरा साख्य-योग-मीमामक आदि परपराओ की तरह लोक को प्रवाहरूप मे अनादि और अनत ही मानती है। यह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसहार नही मानती। अतएव जैन-परपरा मे कर्ता-सहर्ता रूप मे ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नही है। जैन सिद्धात कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव मे ईश्वरभाव है, जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। जिसका ईश्वरभाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगो के लिए उपास्य बनता है। योगशास्त्रसमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता-सहर्ता नही, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना मे अन्तर है। वह यह कि योगशास्त्रसम्मत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जबकि जैनशास्त्रसमत ईश्वर वैसा नही है। जैन-

१. षड्दर्शनसमुच्चय गुणरत्नटीका (पृ०९९)—"मौलिकसाख्या हि आत्मानमात्मान प्रति पृथक् प्रधान वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्य प्रधानमिति प्रपन्नाः।"

शास्त्र कहता है कि प्रयत्नसाध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समान भाव से ईश्वर रूप से उपास्य हैं।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या

पुराने और अपने समय तक मे ज्ञात ऐसे अन्य विचारको के विचारों का तथा स्वानुभवमूलक अपने विचारो का सत्यलक्षी सग्रह ही श्रुतविद्या है। श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचार-सरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो। इसी कारण से जैन-परपरा की श्रुतविद्या नव-नव विद्याओ के विकास के साथ विकसित होती रही है। यही कारण है कि श्रुतविद्या मे सग्रहनयरूप से जहाँ प्रथम साख्यसम्मत सदद्वैत लिया गया वही ब्रह्माद्वैत के विचारविकास के बाद सग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत के विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह जहाँ ऋजुसूत्र नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद सगृहीत हुआ है वही आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारो प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओ का सग्रह हुआ है।

अनेकान्तदृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमे मानव-जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक-लोकोत्तर विद्याएँ अपना-अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती है। यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या मे लोकोत्तर विद्याओ के अलावा लौकिक विद्याओ ने भी स्थान प्राप्त किया है।

प्रमाणविद्या मे प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारो का, उनके साधनो का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमे भी अनेकान्तदृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्व-चिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नही होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से सबध रखनेवाले सभी ज्ञान-विचारो का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँतक का वर्णन जैन परपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असभव है वैसे ही

धर्मशरीर के सिवाय धर्मप्राण की स्थिति भी असभव है। जैन-परंपरा का धर्मशरीर भी सघ-रचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्प-स्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रथसग्राहक भाडार आदि अनेक रूप से विद्यमान है।

(द० औ० चि० खं० २, पृ० ११६-१३१)

: ३ :

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय की प्राचीनता

श्रमण निर्ग्रन्थ धर्म का परिचय

ब्राह्मण या वैदिक धर्मानुयायी सप्रदाय का विरोधी संप्रदाय श्रमण संप्रदाय कहलाता है, जो भारत मे सम्भवत वैदिक सप्रदाय का प्रवेश होने के पहले ही किसी-न-किसी रूप में और किसी-न-किसी प्रदेश मे अवश्य मौजूद था। श्रमण सम्प्रदाय की शाखाएँ और प्रतिशाखाएँ अनेक थी, जिनमे सांख्य, जैन, बौद्ध, आजीवक आदि नाम सुविदित है। पुरानी अनेक श्रमण सप्रदाय की शाखाएँ एव प्रतिशाखाएँ, जो पहले तो वैदिक सप्रदाय की विरोधिनी रही, वे एक या दूसरे कारण से धीरे-धीरे बिलकुल वैदिक-सप्रदाय मे घुलमिल गयी है। उदाहरण के तौर पर हम वैष्णव और शैव-सप्रदाय का सूचन कर सकते हैं। पुराने वैष्णव और शैव आगम केवल वैदिक-सप्रदाय से भिन्न ही न थे, अपितु उसका विरोध भी करते थे। और इस कारण से वैदिक सप्रदाय के समर्थक आचार्य भी पुराने वैष्णव और शैव आगमो को वेद-विरोधी मानकर उन्हे वेदबाह्य मानते थे। पर आज हम देख सकते हैं कि वे ही वैष्णव और शैव-सप्रदाय तथा उनकी अनेक शाखाएँ बिलकुल वैदिक सम्प्रदाय मे सम्मिलित हो गई है। यही स्थिति सांख्य-सप्रदाय की है, जो पहले अवैदिक माना जाता था, पर आज वैदिक माना जाता है। ऐसा होते हुए भी कुछ श्रमण सप्रदाय अभी ऐसे हैं जो खुद अपने को अ-वैदिक ही मानने-मनवाते है और वैदिक विद्वान् भी उन सम्प्रदायो को अवैदिक ही मानते आए है।

इन सम्प्रदायों मे जैन और बौद्ध मुख्य है।

श्रमण सप्रदाय की सामान्य और सक्षिप्त पहचान यह है कि वह न तो अपौरुषेय-अनादिरूप से या ईश्वररचित रूप से वेदो का प्रामाण्य ही मानता है और न ब्राह्मणवर्ग का जातीय या पुरोहित के नाते गुरुपद स्वीकार करता

है, जैसाकि वैदिक-सप्रदाय वेदों और ब्राह्मण पुरोहितो के बारे में मानता व स्वीकार करता है। सभी श्रमण-सम्प्रदाय अपने-अपने सम्प्रदाय के पुरस्कर्तारूप से किसी-न-किसी योग्यतम पुरुष को मानकर उसके वचनों को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं और जाति की अपेक्षा गुण की प्रतिष्ठा करते हुए संन्यासी या गृहत्यागीवर्ग का ही गुरुपद स्वीकार करते हैं।

निर्ग्रन्थ संप्रदाय ही जैन संप्रदाय : कुछ प्रमाण

प्राचीनकाल से श्रमण-सम्प्रदाय की सभी शाखा-प्रतिशाखाओ मे गृह या त्यागीवर्ग के लिए निम्नलिखित शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होते थे : श्रमण, भिक्षु, अनगार, यति, साधु, तपस्वी, परिव्राजक, अर्हत्, जिन, तीर्थंकर आदि। बौद्ध और आजीवक आदि सप्रदायो की तरह जैन-सप्रदाय भी अपने गुरुवर्ग के लिए उपर्युक्त शब्दो का प्रयोग पहले से ही करता आया है, तथापि एक शब्द ऐसा है कि जिसका प्रयोग जैन-सप्रदाय ही अपने सारे इतिहास मे पहले से आजतक अपने गुरुवर्ग के लिए करता आया है। यह शब्द है "निर्ग्रन्थ" (निग्गन्थ)—जैन आगमो के अनुसार निग्गन्थ और बौद्ध पिटकों के अनुसार निग्गठ। जहाँतक हम जानते हैं, ऐतिहासिक साधनों के आधार पर कह सकते हैं कि जैन-परपरा को छोड़कर और किसी परपरा मे गुरुवर्ग के लिए निर्ग्रन्थ शब्द सुप्रचलित और रूढ हुआ नही मिलता। इसी कारण से जैन शास्त्र "निग्गथ पावयण" अर्थात् 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' कहा गया है[2]। किसी अन्य-सप्रदाय का शास्त्र निर्ग्रन्थ प्रवचन नही कहा जाता।

आगमकथित निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साथ जितना और जैसा सीधा सबध बौद्ध पिटको का है उतना और वैसा सबध वैदिक या पौराणिक साहित्य का नही है। इसके निम्नलिखित कारण है—

एक तो—जैन सप्रदाय और बौद्ध-सम्प्रदाय दोनों ही श्रमण संप्रदाय हैं। अतएव इनका सबंध भ्रातृभाव जैसा है।

दूसरा—बौद्ध संप्रदाय के स्थापक गौतम बुद्ध तथा निर्ग्रन्थ संप्रदाय के अन्तिम पुरस्कर्ता ज्ञातपुत्र महावीर दोनों समकालीन थे। वे केवल सम-

१. आचाराग १. ३. १. १०८।

२. भगवती ९. ६. ३८३

कालीन ही नही, बल्कि समान या एक ही क्षेत्र मे जीवनयापन करनेवाले रहे। दोनो की प्रवृत्ति का धाम एक प्रदेश ही नही, बल्कि एक ही शहर, एक ही मुहल्ला और एक ही कुटुम्ब भी रहा। दोनों के अनुयायी भी आपस में मिलते और अपने-अपने पूज्य पुरुष के उपदेशो तथा आचारो पर मित्रभाव से या प्रतिस्पर्द्धिभाव से चर्चा भी करते थे। इतना ही नही, बल्कि अनेक अनुयायी ऐसे भी हुए जो दोनो महापुरुषो को समान भाव से मानते थे। कुछ ऐसे भी अनुयायी थे जो पहले किसी एक के अनुयायी रहे पर बाद मे दूसरे के अनुयायी हुए, मानो महावीर और बुद्ध के अनुयायी ऐसे पडौसी या ऐसे कुटुम्बी थे जिनका सामाजिक सबध बहुत निकट का था। कहना तो ऐसा चाहिए कि मानो एक ही कुटुम्ब के अनेक सदस्य भिन्न-भिन्न मान्यताएँ रखते थे जैसे आज भी देखे जाते हैं।[१]

तीसरा—निर्ग्रन्थ सप्रदाय की अनेक बातो का बुद्ध ने तथा उनके समकालीन शिष्यों ने आँखो देखा-सा वर्णन किया है, भले ही वह खण्डनदृष्टि से किया हो या प्रासगिक रूप से।[२]

इसलिए बौद्धपिटको मे पाया जानेवाला निर्ग्रन्थ सप्रदाय के आचार-विचार का निर्देश ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है। फिर हम जब बौद्ध पिटकागत निर्ग्रन्थ सप्रदाय के निर्देशो को खुद निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप से उपलब्ध आगमिक साहित्य के निर्देशो के साथ शब्द और भाव की दृष्टि से मिलाते है तो इसमे सदेह नही रह जाता कि दोनो निर्देश प्रमाणभूत हैं; भले ही दोनो बाजुओ मे वादि-प्रतिवादिभाव रहा हो। जैसी बौद्ध पिटकों की रचना और सकलना की स्थिति है करीब-करीब वैसी ही स्थिति प्राचीन निर्ग्रन्थ आगमों की है।

बुद्ध और महावीर

बुद्ध और महावीर समकालीन थे। दोनों श्रमण सप्रदाय के समर्थक थे, फिर भी दोनों का अतर बिना जाने हम किसी नतीजे पर पहुँच नहीं सकते। पहला अतर तो यह है कि बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण से लेकर अपना

१. उपासकदशाग अ० ८ इत्यादि।

२. मज्झिमनिकाय, सुत्त १४, ५६, दीघनिकाय, सुत्त २९, ३३।

नया मार्ग—धर्मचक्रप्रवर्तन किया, तबतक के छः वर्षों में उस समय प्रचलित भिन्न-भिन्न तपस्वी और योगी सप्रदायों का एक-एक करके स्वीकार परित्याग किया और अन्त मे अपने अनुभव के बल पर नया ही मार्ग प्रस्थापित किया, जबकि महावीर को कुलपरपरा से जो धर्ममार्ग प्राप्त था उसको स्वीकार करके वे आगे बढ़े और उस कुलधर्म में अपनी सूझ और शक्ति के अनुसार सुधार या शुद्धि की। एक का मार्ग पुराने पथो के त्याग के बाद नया धर्म-स्थापन था तो दूसरे का मार्ग कुलधर्म का सशोधन मात्र था। इसीलिए हम देखते है कि बुद्ध जगह-जगह पूर्व स्वीकृत और अस्वीकृत अनेक पथों की समालोचना करते हैं और कहते हैं कि अमुक पथ का अमुक नायक अमुक मानता है, दूसरा अमुक मानता है, पर मै इसमे सम्मत नही; मै तो ऐसा मानता हूँ इत्यादि।[1] बुद्ध ने पिटक-भर मे ऐसा कही नही कहा कि मै जो कहता हूँ वह मात्र पुराना है, मै तो उसका प्रचारक मात्र हूँ। बुद्ध के सारे कथन के पीछे एक ही भाव है और वह यह है कि मेरा मार्ग खुद अपनी खोज का फल है। जब कि महावीर ऐसा नही कहते, क्योंकि एक बार पार्श्वापत्यिको ने महावीर से कुछ प्रश्न किए तो उन्होने पार्श्वापत्यिकों को पार्श्वनाथ के ही वचन की साक्षी देकर अपने पक्ष मे किया है।[2] यही कारण है कि बुद्ध ने अपने मत के साथ दूसरे किसी समकालीन या पूर्वकालीन मत का समन्वय नही किया है, उन्होने केवल अपने मत की विशेषताओं को दिखाया है; जबकि महावीर ने ऐसा नही किया। उन्होने पार्श्वनाथ के तत्कालीन सप्रदाय के अनुयायियो के साथ अपने सुधार का या परिवर्तनों का समन्वय किया है[3]। इसलिए महावीर का मार्ग पार्श्वनाथ के सप्रदाय के साथ उनकी समन्वयवृत्ति का सूचक है।

बुद्ध और महावीर के बीच लक्ष्य देने योग्य दूसरा अतर जीवनकाल का है। बुद्ध ८० वर्ष के होकर निर्वाण को प्राप्त हुए, जबकि महावीर ७२ वर्ष के होकर। अब तो यह साबित-सा हो गया है कि बुद्ध का निर्वाण पहले और

---

१. मज्झिम० ५६। अगुत्तर Vol. I, p. 206, Vol. III, p. 383.

२. भगवती ५. ९. २२५।

३. उत्तराध्ययन अ० २३।

महावीर का पीछे हुआ है ।[1] इस तरह महावीर की अपेक्षा बुद्ध कुछ वृद्ध अवश्य थे । इतना ही नही, पर महावीर ने स्वतंत्र रूप से धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया इसके पहले ही बुद्ध ने अपना मार्ग स्थापित करना शुरू कर दिया था । बुद्ध को अपने मार्ग मे नए-नए अनुयायियो को जुटाकर ही बल बढाना था, जबकि महावीर को नए अनुयायियो को बनाने के सिवाय पार्श्व के पुराने अनुयायियो को भी अपने प्रभाव मे और आसपास जमाए रखना था । तत्कालीन अन्य सब पन्थो के मतव्यो की पूरी चिकित्सा या बिना खडन किए बुद्ध अपनी सघ-रचना मे सफल नही हो सकते थे, जबकि महावीर का प्रश्न कुछ निराला था, क्योकि अपने चारित्र व तेजोबल से पार्श्वनाथ के तत्कालीन अनुयायियो का मन जीत लेने मात्र से ही वे महावीर के अनुयायी बन ही जाते थे । इसलिए नए-नए अनुयायियो की भरती का सवाल उनके सामने इतना तीव्र न था जितना बुद्ध के सामने था । इसलिए हम देखते है कि बुद्ध का सारा उपदेश दूसरो की आलोचनापूर्वक ही देखा जाता है ।

निर्ग्रन्थ-परंपरा का बुद्ध पर प्रभाव

बुद्ध ने अपना मार्ग शुरू करने के पहले जिन पन्थो को एक-एक करके छोड़ा उनमे एक निर्ग्रन्थ पथ भी आता है । बुद्ध ने अपनी पूवजीवनी का जो हाल कहा है[2] उसको पढ़ने और उसका जैन आगमो मे वर्णित आचारों के साथ मिलान करने से यह नि सदेह रूप से जान पडता है कि बुद्ध ने अन्य पन्थों की तरह निर्ग्रन्थ पन्थ मे भी ठीक-ठीक जीवन बिताया था, भले ही वह स्वल्पकालीन ही रहा हो । बुद्ध के साधनाकालीन प्रारम्भिक वर्षो मे महावीर ने तो अपना मार्ग शुरू किया ही न था और उस समय पूर्व प्रदेश में पार्श्वनाथ के सिवाय दूसरा कोई निर्ग्रन्थ पन्थ न था । अतएव सिद्ध है कि बुद्ध ने, थोडे ही समय के लिए क्यो न हो, पर पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय का जीवन व्यतीत किया था । यही कारण है कि बुद्ध जब निर्ग्रन्थ

१. वीरसंवत् और जैन कालगणना; 'भारतीय विद्या', तृतीय भाग, पृ० १७७ ।

२. मज्झिम० सु० २६ । प्रो० कोशाबीकृत बुद्धचरित ।

सम्प्रदाय के आचार-विचारों की समालोचना करते हैं तब निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में प्रतिष्ठित ऐसे तप के ऊपर तीव्र प्रहार करते है। और यही कारण है कि निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के आचार और विचार का ठीक-ठीक उसी सम्प्रदाय की परिभाषा मे वर्णन करके वे उसका प्रतिवाद करते है। महावीर और बुद्ध दोनो का उपदेशकाल अमुक समय तक अवश्य ही एक पडता है। इतना ही नही, पर वे दोनो अनेक स्थानो मे बिना मिले भी साथ-साथ विचरते है। इसलिए हम यह भी देखते हैं कि पिटको में 'नातपुत्त निग्गठ' रूप से महावीर का निर्देश आता है।[1]

चार याम और बौद्ध संप्रदाय

बौद्धपिटकान्तर्गत 'दीघनिकाय' और 'सयुत्तनिकाय' मे निर्ग्रन्थों के महाव्रत की चर्चा आती है।[2] 'दीघनिकाय' के 'सामञ्ञफलसुत्त' मे श्रेणिक—बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु—कुणिक ने ज्ञातपुत्र महावीर के साथ हुई अपनी मुलाकात का वर्णन बुद्ध के समक्ष किया है, जिसमे ज्ञातपुत्र महावीर के मुख से कहलाया है कि निर्ग्रन्थ चतुर्यामसवर से सयत होता है, ऐसा ही निर्ग्रन्थ यतात्मा और स्थितात्मा होता है। इसी तरह सयुत्तनिकाय के 'देवदत्त संयुत्त' मे निक नामक व्यक्ति ज्ञातपुत्र महावीर को लक्ष्य मे रख-कर बुद्ध के सम्मुख कहता है कि वह ज्ञातपुत्र महावीर दयालु, कुशल और चतुर्यामयुक्त है। इन बौद्ध उल्लेखों के आधार से हम इतना जान सकते हैं कि खुद बुद्ध के समय मे और उसके बाद भी (बौद्ध पिटको ने अन्तिम स्वरूप प्राप्त किया तब तक भी) बौद्ध परपरा महावीर को और महावीर के अन्य निर्ग्रन्थो को चतुर्यामयुक्त समझती रही। पाठक यह बात जान लें कि याम का मतलब महाव्रत है, जो योगशास्त्र (२. ३०) के अनुसार यम भी कहलाता है। महावीर की निर्ग्रन्थ-परंपरा आज तक पाँच महाव्रतधारी रही हैं और पाँच महाव्रती रूप से ही शास्त्र मे तथा व्यवहार मे प्रसिद्ध है। ऐसी स्थिति में बौद्धग्रन्थो में महावीर और अन्य निर्ग्रन्थो का चतुर्महाव्रतधारी रूप से जो कथन है उसका क्या अर्थ है?—यह प्रश्न अपने-आप ही पैदा होता है।

---

१. दीघ० सु० २।

२. दीघ० सु० २। सयुत्तनिकाय Vol. 1, p. 66.

इसका उत्तर हमें उपलब्ध जैन आगमों से मिल जाता है। उपलब्ध आगमों मे भाग्यवश अनेक ऐसे प्राचीन स्तर सुरक्षित रह गए हैं जो केवल महावीर-समकालीन निर्ग्रन्थ-परपरा की स्थिति पर ही नही बल्कि पूर्ववर्ती पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा की स्थिति पर भी स्पष्ट प्रकाश डालते हैं। 'भगवती' और 'उत्तराध्ययन' जैसे आगमो मे[1] वर्णन मिलता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ—जो चार महाव्रतयुक्त थे उनमे से अनेको ने महावीर का शासन स्वीकार करके उनके द्वारा उपदिष्ट पाँच महाव्रतो को धारण किया और पुरानी चतुर्महाव्रत की परपरा को बदल दिया, जबकि कुछ ऐसे भी पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ रहे जिन्होने अपनी चतुर्महाव्रत की परपरा को ही कायम रखा।[2] चार के स्थान मे पाँच महाव्रतो की स्थापना महावीर ने क्यो की और कब की यह भी ऐतिहासिक सवाल है। क्यो की—इस प्रश्न का जवाब तो जैन-ग्रन्थ देते हैं, पर कब की—इसका जवाब वे नही देते। अहिसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह इन चार यामो—महाव्रतो की प्रतिष्ठा भ० पार्श्वनाथ के द्वारा हुई थी, पर निर्ग्रन्थ परपरा मे क्रमश: ऐसा शैथिल्य आ गया कि कुछ निर्ग्रन्थ अपरिग्रह का अर्थ सग्रह न करना इतना ही करके स्त्रियो का सग्रह या परिग्रह बिना किए भी उनके सम्पर्क से अपरिग्रह का भग समझते नही थे। इस शिथिलता को दूर करने के लिए भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह से अलग स्थापित किया और चतुर्थ व्रत मे शुद्धि लाने का प्रयत्न किया। महावीर ने ब्रह्मचर्यव्रत की अपरिग्रह से पृथक् स्थापना अपने तीस वर्ष के लम्बे उपदेश-काल मे कब की वह तो कहा नही जा सकता, पर उन्होंने यह स्थापना ऐसी बलपूर्वक की कि जिसके कारण अगली सारी निर्ग्रन्थ-परपरा पच महाव्रत की ही प्रतिष्ठा करने लगी, और जो इने-गिने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ महावीर के पच महाव्रत-शासन से अलग रहे उनका आगे कोई अस्तित्व ही न रहा। अगर बौद्ध पिटकों मे और जैन आगमो में चार महाव्रत का निर्देश व वर्णन न आता तो आज यह पता भी न चलता कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा कभी चार महाव्रतवाली भी थी।

---

१. 'उत्थान' महावीराक (स्था० जैन कान्फरेन्स, बम्बई), पृ० ४६।
२. वही।

ऊपर की चर्चा से यह तो अपने-आप विदित हो जाता है कि पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे दीक्षा लेनेवाले ज्ञातपुत्र महावीर ने खुद भी शुरू मे चार ही महाव्रत धारण किये थे, पर साम्प्रदायिक स्थिति देखकर उन्होंने उस विषय मे कभी-न-कभी सुधार किया । इस सुधार के विरुद्ध पुरानी निर्ग्रन्थ-परपरा में कैसी चर्चा या तर्क-वितर्क होते थे इसका आभास हमे उत्तराध्ययन के केशि-गौतम सवाद से मिल जाता है, जिसमे कहा गया है कि कुछ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थो मे ऐसा वितर्क होने लगा कि जब पार्श्वनाथ और महावीर का ध्येय एकमात्र मोक्ष ही है तब दोनों के महाव्रत-विषयक उपदेशों मे अन्तर क्यों ?[१] इस उधेड़-बुन को केशी ने गौतम के सामने रखा और गौतम ने इसका खुलासा किया । केशी प्रसन्न हुए और महावीर के शासन को उन्होने मान लिया । इतनी चर्चा से हम निम्नलिखित नतीजे पर सरलता से आ सकते हैं—

१. महावीर के पहले, कम-से-कम पार्श्वनाथ से लेकर निर्ग्रन्थ-परंपरा में चार महाव्रतों की ही प्रथा थी, जिसको भ० महावीर ने कभी-न-कभी बदला और पाँच महाव्रत रूप मे विकसित किया । वही विकसित रूप आज तक के सभी जैन फिरको मे निर्विवादरूप से मान्य है और चार महाव्रत की पुरानी प्रथा केवल ग्रन्थो मे ही सुरक्षित है ।

२. खुद बुद्ध और उनके समकालीन या उत्तरकालीन सभी बौद्ध भिक्षु निर्ग्रन्थ-परपरा को एकमात्र चतुर्महाव्रतयुक्त ही समझते थे और महावीर के पचमहाव्रतसबधी आतरिक सुधार से वे परिचित न थे । जो एक बार बुद्ध ने कहा और जो सामान्य जनता में प्रसिद्धि थी उसीको वे अपनी रचनाओ मे दोहराते गए ।

बुद्ध ने अपने सघ के लिए पाँच शील या व्रत मुख्य बतलाए है, जो सख्या की दृष्टि से तो निर्ग्रन्थ परपरा के यमो के साथ मिलते हैं, पर दोनों मे थोड़ा अन्तर है । अन्तर यह है कि निर्ग्रन्थ-परंपरा मे अपरिग्रह पंचम व्रत है, जबकि बौद्ध परंपरा मे मद्यादि का त्याग पाँचवां शील है ।

यद्यपि बौद्धग्रन्थों में बार-बार चतुर्याम का निर्देश आता है, पर मूल

---

१. उत्तरा० २३. ११-१३, २३-२७, इत्यादि ।

पिटकों में तथा उनकी अट्ठकथाओं मे चतुर्याम का जो अर्थ किया गया है वह गलत तथा अस्पष्ट है ।[1] ऐसा क्यों हुआ होगा ?—यह प्रश्न आए बिना नही रहता । निर्ग्रन्थ-परपरा जैसी अपनी पड़ोसी समकालीन और अति प्रसिद्ध परंपरा के चार यमो के बारे मे बौद्ध ग्रन्थकार इतने अनजान हो या अस्पष्ट हों यह देखकर शुरू-शुरू मे आश्चर्य होता है, पर हम जब साम्प्रदायिक स्थिति पर विचार करते हैं तब वह अचरज गायब हो जाता है । हरएक सम्प्रदाय ने दूसरे के प्रति पूरा न्याय नही किया है । यह भी सम्भव है कि मूल में बुद्ध तथा उनके समकालीन शिष्य चतुर्याम का पूरा और सच्चा अर्थ जानते हो । वह अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध भी था, इसलिए उन्होने उसको बतलाने की आवश्यकता समझी न हो, पर पिटको की ज्यों-ज्यों सकलना होती गई त्यों-त्यों चतुर्याम का अर्थ स्पष्ट करने की आवश्यकता मालूम हुई । किसी बौद्ध भिक्षु ने कल्पना से उसके अर्थ की पूर्ति की, वही आगे ज्यो-की-त्यो पिटको में चली आई और किसीने यह नही सोचा कि चतुर्याम का यह अर्थ निर्ग्रन्थ-परंपरा को सम्मत है या नही ? बौद्धो के बारे मे भी ऐसा विपर्यास जैनो के द्वारा हुआ कही-कही देखा जाता है ।[2] किसी सम्प्रदाय के मन्तव्य का पूर्ण सच्चा स्वरूप तो उसके ग्रन्थो और उसकी परपरा से जाना जा सकता है ।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५०-५९, ९७-१००)

---

१. दीघ० सु० २ । दीघ० सुमगला, पृ० १६७ ।

२. सूत्रकृताग १. २. २. २४-२८ ।

: ४ :

जैन संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत

सस्कृति का स्रोत नदी के ऐसे प्रवाह के समान है, जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतो से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणो से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान मे पाए जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि मे कुछ-न-कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलानेवाली सस्कृति भी उस सस्कृति-सामान्य के नियम का अपवाद नही है। जिस संस्कृति को आज हम जैन सस्कृति के नाम से पहचानते हैं, उसके सर्वप्रथम आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहले-पहल किस स्वरूप मे उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है, फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारो के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनो के ऊपर विचार करते हुए हम जैन सस्कृति का हृदय थोड़ा-बहुत पहचान पाते है।

जैन संस्कृति के दो रूप

जैन सस्कृति के भी, दूसरी सस्कृतियो की तरह, दो रूप हैं : एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस सस्कृति के अलावा दूसरे लोग भी आख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर सस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नही होता, क्योकि किसी भी सस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी को होता है, जो उसे अपने जीवन मे तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहे तो साक्षात् दर्शन कर नही सकते, पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बितानेवाले पुरुष या

पुरुषों के जीवन-व्यवहारो से तथा आसपास के वातावरण पर पड़नेवाले उनके असरों से वे किसी भी आन्तर सस्कृति का अन्दाजा लगा सकते हैं। यहां मुझे मुख्यतया जैन सस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन संस्कृति का बाह्य स्वरूप

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप मे, अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह, अनेक वस्तुओ का समावेश होता है। शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमे काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयो का जैन समाज के साथ एक निराला सबन्ध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बाते बाह्य सस्कृति की अग हैं, पर यह कोई नियम नही है कि जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अग मौजूद हो वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिए। बाह्य अगो के होते हुए भी कभी हृदय नही रहता और बाह्य अगो के अभाव मे भी सस्कृति का हृदय सभव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करने-वाला कोई भी व्यक्ति भली भाति समझ सकेगा कि जैन-सस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन मैं यहाँ करने जा रहा हूँ, वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलानेवाले व्यक्तियो मे ही सभव है ऐसी कोई बात नही है। सामान्य लोग जिन्हे जैन समझते है या जो अपनेको जैन कहते हैं, उनमे अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय सभव नही और जैन नही कहलानेवाले व्यक्तियो मे भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय सभव है। इस तरह जब सस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज मे सुलभ नही होता, तब सस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायियो की तरह इतर समाज के अनुयायियो मे भी सभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पांत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बाघ सकते हैं।

जैन संस्कृति का हृदय : निवर्त्तक धर्म

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है ? इसका संक्षिप्त जवाब यही है कि निवर्त्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमे प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपो के बारे मे थोड़ा-सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण

इस समय जितने भी धर्म दुनिया मे जीवित हैं या जिनका थोडा-बहुत इतिहास मिलता है, उन सबके आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागो मे विभाजित होता है।

१. पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।

२ दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।

३. तीसरा वह है जो जन्म-जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद

आज की तरह बहुत पुराने समय मे भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन मे प्राप्त होनेवाले सुख से उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनो की खोज मे समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नही सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अतएव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नही है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान

या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नही। ऐसा विचार करनेवाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रो में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। वही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि मे साध्य-पुरुषार्थ एकमात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नही करता या धर्म के नाम से तरह-तरह के विधि-विधानो पर विचार नही करता। अतएव इस वर्ग को एकमात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते है।

प्रवर्तक धर्म

दूसरा विचारकवर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है, पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म मे सुख सम्भव है वैसे ही प्राणी मर-कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्मजन्मान्तर मे शारीरिक मानसिक सुखो के प्रकर्ष-अपकर्ष की शृखला चल रही है। जैसे इस जन्म मे वैसे ही जन्मान्तर मे भी हमे सुखी होना हो या अधिक सुख पाना हो, तो इसके लिए हमे धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म मे उपकारक भले ही हो, पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचारसरणीवाले लोग तरह तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही, पर उसकी कल्पना जन्म-जन्मान्तर में अधि-काधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानो को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रवर्तक-धर्म का सक्षेप मे सार यह है कि जो और जैसी समाजव्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा मे सुख-लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म मे भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा सके। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश्य समाजव्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मा-

न्तर का उच्छेद । प्रवर्तक-धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म ये तीन पुरुषार्थ हैं । उसमे मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नही है । प्राचीन ईरानी आर्य जो अवेस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे, और प्राचीन वैदिक आर्य, जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेदभाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी हैं । आगे जाकर वैदिक दर्शनो में जो मीमांसा-दर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक-धर्म का जीवित रूप है ।

निवर्तक धर्म

निवर्तक-धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक-धर्म का बिलकुल विरोधी है । जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्मवादियों की तरह तो मानते ही थे, पर साथ ही वे जन्मान्तर मे प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे, उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर मे कितना ही ऊँचा सुख क्यो न मिले, वह कितने ही दीर्घ-काल तक क्यो न स्थिर रहे, पर अगर वह सुख कभी-न-कभी नाश पानेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अत मे निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नही सकता । वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो । इस खोज की सूझ ने उन्हे मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया । वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति सभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देहधारण करना नही पडता । वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म-निवृत्ति कहते थे । प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानो से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखो के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानो को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते, बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानो को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे । उद्देश्य और दृष्टि मे पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय था वही निवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया । यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया,

पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हे एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया, जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था ; वह एकमात्र साधक की अपनी विचार-शुद्धि और वर्तन-शुद्धि पर अवलबित था। यही विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक-धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय सस्कृति के विचित्र और विविध ताने-बाने की जाच करते है तब हमे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनो मे कर्मकाण्डी मीमासक के अलावा सभी निवर्तक-धर्मवादी है। अवैदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन-दर्शन की सस्कृति तो मूल मे निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही, पर वैदिक समझे जानेवाले न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक ये सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्टानो को अन्त में हेय ही बतलाते है। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्मज्ञान को तथा आत्मज्ञानमूलक अनासक्त जीवनव्यवहार को उपादेय मानते हैं एव उसीके द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना सभव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक धर्म

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज मे रहकर ही सामाजिक कर्तव्य, जो ऐहिक जीवन से सबन्ध रखते हैं, और धार्मिक कर्तव्य, जो पारलौकिक जीवन से सबन्ध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनों से आबद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का सशोधन करना इष्ट है, पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लांघ कर कोई विकास कर नही सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक धर्म

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति मे से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्मतत्त्व है या नही, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा सबध है, उसका साक्षात्कार सभव है तो किन-किन उपायों से सभव है, इत्यादि प्रश्नो की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नही हैं कि जो एकान्त चिन्तन, ध्यान, तप और असगता-पूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सके। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियो के के लिए ही सभव हो सकता है। उसका समाजगामी होना सभव नही। इस कारण प्रवर्तक-धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरू मे बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बधन था ही नही। वह गृहस्थाश्रम बिना किये भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है, क्योकि उसका आधार इच्छा का सशोधन नही पर उसका निरोध है। अतएव निवर्तक-धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यो से बद्ध होने की बात नही मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्मसाक्षात्कार का और उसमे रुकावट डालनेवाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास

जान पडता है, इस देश मे जब प्रवर्तक-धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आये तब भी कही-न-कही इस देश मे निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप मे प्रचलित था। शुरू मे इन दो धर्म-सस्थाओ के विचारो मे पर्याप्त सघर्ष रहा, पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियो की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ रहा था उसने प्रवर्तक-धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खीचा और निवर्तक-धर्म की सस्थाओं का अनेक रूप मे विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्त मे यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म के आधार रूप

जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान मे प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओ ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे सन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक सस्थाओ के बढते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त मे तो यहाँ तक प्रवर्तक-धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे सन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किये भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन मे समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन मे आज भी देखते हैं ।

समन्वय और संघर्षण

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवतक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणो के वशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होने चिन्तन और जीवन मे निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होने अपनी पैतृक सपत्तिरूप प्रवर्तक-धर्म और उसके आधारभूत वेदो का प्रामाण्य मान्य रखा। न्यायवैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए, जिन्होने तप, ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक क्रियाकाड का तो आत्यनिक विरोध किया, पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नही किया। ऐसे व्यक्तियो मे साख्यदर्शन के आदिपुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल मे साख्य-योग दर्शन प्रवर्तक-धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त मे वैदिक दर्शनों मे समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश मे शताब्दियो तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनो धर्मों मे होते रहे जो अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे और न युक्त बतलाते थे। भगवान् महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं, फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश मे निवर्तक-धर्म की पोषक अनेक सस्थाएँ थी और दूसरी अनेक नई पैदा हो रही थी, जो प्रवर्तक-धर्म का उग्रता से विरोध करती थीं।

अब तक नीच से ऊँच तक के वर्गों में निवर्तन-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारो का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय मे प्रवर्तक और निवर्तक-धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी, जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय मे पाते है। तथागत बुद्ध ऐसे पक्व विचारक और दृढ थे कि जिन्होने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म मे प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यो और शास्त्रों को आश्रय नही दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी एैसे ही कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अतएव हम देखते है कि पहले से आज तक जैन और बौद्ध सम्प्रदाय मे अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए, फिर भी उन्होने जैन और बौद्ध वाङमय मे वेद के प्रामाण्य-स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रखा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार

शताब्दियो ही नही बल्कि सहस्राब्दियो पहले से लेकर धीरे-धीरे निवर्तक-धर्म के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप जिन अनेक मन्तव्यो और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय मे विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं :

१. आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व।

२. इस उद्देश्य की पूर्ति मे बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या और तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद करना।

३. इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन-व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके लिये शारीरिक, मानसिक, वाचिक विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन-चार या पाँच महाव्रतो का यावज्जीवन अनुष्ठान।

४. किसी भी आध्यात्मिक अनुभववाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णनवाले वचनो को ही प्रमाण रूप से

मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को ।

५. योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष । इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का ।

६. मद्य-मास आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध ।

ये तथा इनके जैसे लक्षण, जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारो से जुदा पडते थे, वे देश मे जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे ।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय

न्यूनाधिक उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक सस्थाओ और सम्प्रदायो मे एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था, जो महावीर के पहले अनेक शताब्दियो से अपने खास ढङ्ग से विकास करता जा रहा था । उसी सम्प्रदाय मे पहले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे या वे उस सम्प्रदाय मे मान्य पुरुष बन चुके थे । उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे । यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे, पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवत वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ । यद्यपि निवर्तक-धर्मानुयायी पन्थो में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था, फिर भी भगवान् महावीर के समय मे और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थवर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नही होता था । आज जैन शब्द से महावीरपोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' व 'गृहस्थ' सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहले 'निग्गथ' और 'समणोवासग' आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे ।

अन्य सम्प्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियो की स्तुति, उपासना के स्थान

में जैनो का आदर्श है निष्कलक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचार मे बहिष्कृत देव-देवियाँ पुन, गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गई, जिसका कि जैन-सस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन-परपरा ने उपासना मे प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जोकि उसके उद्देश्य के साथ सगत है, पर साथ ही उसके आसपास शृगार व आडम्बर का इतना सभार आ गया, जोकि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असगत है। स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज मे सम्मान व स्थान दिलाने का जो जैन-सस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रो को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्मप्रसिद्ध जाति की दीवारे भी खड़ी की। यहाँतक कि जहाँ ब्राह्मण-परपरा का प्राधान्य रहा वहाँ तो उसने अपने घेरे मे से भी शूद्र कहलानेवाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू मे जैन-सस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने मे गौरव समझती थी उसने दक्षिण-जैसे देशो मे नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियो को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया, जोकि स्पष्टत कट्टर ब्राह्मण-परपरा का ही असर है। मन्त्र, ज्योतिष आदि विद्याएँ, जिनका जैन-सस्कृति के ध्येय के साथ कोई संबन्ध नही, वे भी जैन-सस्कृति मे आई। इतना ही नही, बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारों तक ने उन विद्याओ को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि सस्कारों का मूल में सस्कृति के साथ कोई सबन्ध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान मे मध्यकाल में जैन-सस्कृति का एक अग बन गए और इसके लिए ब्राह्मण-परपरा की तरह जैन-परपरा मे भी एक पुरोहितवर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक तरह नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियो में आ गए। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटी कि जैन-सस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी जो दूसरे विरोधी सम्प्रदायों मे से आकर उसमें शरीक होते थे या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे।

अब हम थोड़े मे यह भी देखेगे कि जैन-सस्कृति का दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का दूसरों पर प्रभाव

यों तो सिद्धान्तत सर्वभूतदया को सभी मानते है, पर प्राणिरक्षा के ऊपर जितना जोर जैन-परपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग मे यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगो का एक या दूसरे क्षेत्र मे प्रभाव रहा सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल सस्कार पड़ा है। यहाँतक कि भारत के अनेक भागों मे अपने को अजैन कहनेवाले तथा जैन-विरोधी समझे जानेवाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफरत करने लगे है। अहिंसा के इस सामान्य सस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परपराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परपरा से बिलकुल जुदा हो गए है। तपस्या के बारे मे भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक बल देते रहे है। इसका फल पड़ोसी समाजो पर इतना पड़ा है कि उन्होने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविध सात्त्विक तपस्याएँ अपना ली हैं। और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहाँ तक कि अनेक बार मुसलमान सम्राट् तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नही किया है, बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी है।

मद्य-मांस आदि सात व्यसनो को रोकने तथा उन्हे घटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने मे समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पूरे बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे, पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आजतक जारी है और जहाँ जैनो का प्रभाव ठीक-ठीक है वहाँ इस स्वरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मास-मद्य का उपयोग करने मे सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तो मे जो प्राणिरक्षा और निर्मांस-भोजन का आग्रह है वह जैन-परपरा का ही प्रभाव है।

जैन-विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय मे बिलकुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो, और अन्त मे समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना। यो तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन मे एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है, इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्तिलाभ कर सकता है, पर जैन विचारको ने इस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और इसपर इतना अधिक ज़ोर दिया है कि उससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी सप्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन-परंपरा के आदर्श

जैन-सस्कृति के हृदय को समझने के लिए हमे थोडे-से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहले से आज तक जैन-परपरा मे एकसे मान्य हैं और पूजे जाते है। सबसे पुराना आदर्श जैन-परपरा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का सबसे बडा भाग उन जवाबदेहियो को बुद्धिपूर्वक अदा करने मे बिताया जो प्रजापालन की जिम्मेदारी के साथ उनपर आ पड़ी थी। उन्होने उस समय के बिलकुल अपढ लोगों को लिखना-पढ़ना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जाननेवाले वनचरो को उन्होने खेती-बाडी तथा बढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाये, आपस मे कैसे बरतना, कैसे नियमो का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जवाबदेहियों को निबाह लेगा तब उसे राज्य-भार सौपकर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कट तपस्वी होकर वे घर से निकल पड़े।

ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थी। उस ज़माने में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का

विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुन्दरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा, बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त मे भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-माग को अस्वीकार किया, जबकि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्नमाग को तपस्या मे परिणत कर दिया और फलत: भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नामशेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रो मे राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्त मे द्वन्द्व युद्ध का फैसला हुआ। भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टिप्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय मे बदल दिया। यह सोचकर कि राज्य के निमित्त लडाई मे विजय पाने और वैर-प्रतिवैर तथा कुटुम्ब-कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहकार और तृष्णा-जय मे ही है, उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन्त दृष्टात स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त मे भरत का भी लोभ तथा गर्व खर्व हुआ।

एक समय था जबकि केवल क्षत्रियो मे ही नही पर सभी वर्गों मे मास खाने की प्रथा थी। नित्यप्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरो पर पशु-पक्षियो का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलो और फलो का चढाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होने अपनी शादी पर भोजन के लिये कतल किये जानेवाले निर्दोष पशु-पक्षियो की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमे अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियो का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होने तपस्या की। कौमारवय मे राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षीवध की प्रथा पर आत्मदृष्टांत से इतना सख्त प्रहार किया जिससे गुजरात-भर मे और गुजरात के प्रभाववाले दूसरे प्रान्तों

मे भी वह प्रथा नाम-शेष हो गई और जगह-जगह आजतक चली आने-वाली पिजरापोलो की लोकप्रिय सस्थाओ मे परिवर्तित हो गई।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है। उन्होने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयायियो की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि आज भी जैन प्रभाववाले क्षेत्रो मे कोई साँप तक को नही मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जगल मे वे ध्यानस्थ खड़े थे, एक प्रचण्ड विषधर ने उन्हे डस लिया। उस समय वे न केवल ध्यान मे अचल ही रहे बल्कि उन्होने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया, जिससे वह ''अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग'' इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसगो पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यो मे होने-वाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन-सस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयो के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी-न-किसी तरह सँभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास मे जीवित है। जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राजा, मन्त्री और व्यापारी आदि गृहस्थो ने जैन-सस्कृति के अहिंसा, तप और सयम के आदर्शों का अपने ढग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य

सस्कृतिमात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढ़ना। यह उद्देश्य वह तभी साध सकती है जब वह अपने जनक और पोषक राष्ट्र की भलाई मे योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी सस्कृति के बाह्य अङ्ग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर सस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफ़त का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक-सी बनी रहती है। कोई भी सस्कृति केवल अपने इतिहास और पुरानी यशोगाथाओं के

सहारे न जीवित रह सकती है और न प्रतिष्ठा पा सकती है, जब तक वह भावी-निर्माण में योग न दे।

इस दृष्टि से भी जैन-संस्कृति पर विचार करना सगत है। हम ऊपर बतला आए हैं कि यह सस्कृति मूलतः प्रवृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म से छुटकारा पाने की दृष्टि से आविर्भूत हुई थी। इसके आचार-विचार का सारा ढाचा उसी लक्ष्य के अनुकूल बना है। पर हम यह भी देखते हैं कि आखिर में वह सस्कृति व्यक्ति तक सीमित न रही; उसने एक विशिष्ट समाज का रूप धारण किया।

निवृत्ति और प्रवृत्ति

समाज कोई भी हो, वह एकमात्र निवृत्ति की भूलभुलैयो पर न जीवित रह सकता है और न वास्तविक निवृत्ति ही साध सकता है। यदि किसी तरह निवृत्ति को न माननेवाले और सिर्फ प्रवृत्तिचक्र का ही महत्त्व माननेवाले आखिर मे उस प्रवृत्ति के तूफान और आंधी मे ही फंसकर मर सकते हैं, तो यह भी उतना ही सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय बिना लिए निवृत्ति हवाई किला ही बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही मानव-कल्याण के सिक्के के दो पहलू है। दोष, गलती, बुराई और अकल्याण से तबतक कोई नही बच सकता जब तक वह दोषनिवृत्ति के साथ-ही-साथ सद्गुणप्रेरक और कल्याणमय प्रवृत्ति मे प्रवृत्त न हो। कोई भी बीमार केवल अपथ्य और कुपथ्य से निवृत्त होकर जीवित नही रह सकता, उसे साथ-ही-साथ पथ्यसेवन करना चाहिए। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिये अगर जरूरी है, तो उतना ही जरूरी उसमें नए रुधिर का सचार करना भी है।

निवृत्तिलक्षी प्रवृत्ति

ऋषभदेव से लेकर आजतक निवृत्तिगामी कहलानेवाली जैन-संस्कृति भी जो किसी-न-किसी प्रकार जीवित रही है वह एकमात्र निवृत्ति के बल पर नही, किन्तु कल्याणकारी प्रवृत्ति के सहारे ही। यदि प्रवर्तक-धर्मी ब्राह्मणों ने निवृत्ति-मार्ग के सुन्दर तत्त्वों को अपनाकर एक व्यापक कल्याणकारी संस्कृति का निर्माण किया है, जो गीता में उज्जीवित होकर आज

नए उपयोगी स्वरूप में गाधीजी के द्वारा पुनः अपना संस्करण कर रही है, तो निवृत्तिलक्षी जैन-संस्कृति को भी कल्याणाभिमुख आवश्यक प्रवृत्तियों का सहारा लेकर ही आज की बदली हुई परिस्थिति मे जीना होगा। जैन-संस्कृति मे तत्त्वज्ञान और आचार के जो मूल नियम हैं और वह जिन आदर्शों को आजतक पूजी मानती आई है उनके आधार पर वह प्रवृत्ति का ऐसा मगलमय योग साघ सकती है जो सबके लिए क्षेमकर हो।

जैन-परंपरा मे प्रथम स्थान है त्यागियो का, दूसरा स्थान है गृहस्थों का। त्यागियो को जो पाँच महाव्रत धारण करने की आज्ञा है वह अधिकाधिक सद्गुणो मे प्रवृत्ति करने की या सद्गुण-पोषक प्रवृत्ति के लिए बल पैदा करने की प्राथमिक शर्त मात्र है। हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि दोषो से बिना बचे सद्गुणो में प्रवृत्ति हो ही नही सकती और सद्गुण-पोषक प्रवृत्ति को बिना जीवन मे स्थान दिये हिंसा आदि से बचे रहना भी सर्वथा असम्भव है। जो व्यक्ति सार्वभौम महाव्रतों को धारण करने की शक्ति नही रखता उसके लिए जैन-परपरा मे अणुव्रतों की सृष्टि करके धीरे-धीरे निवृत्ति की ओर आगे बढने का मार्ग भी रखा है। ऐसे गृहस्थों के लिए हिंसा आदि दोषो से अशत. बचने का विधान किया गया है। उसका मतलब यही है कि गृहस्थ पहले दोषो से बचने का अभ्यास करें, पर साथ ही यह आदेश है कि जिस-जिस दोष को वे दूर करे उस-उस दोष के विरोधी सद्गुणो को जीवन मे स्थान देते जाएँ। हिंसा को दूर करना हो तो प्रेम और आत्मौपम्य के सद्गुण को जीवन में व्यक्त करना होगा। सत्य बिना बोले और सत्य बोलने का बल बिना पाए असत्य से निवृत्ति कैसे होगी? परिग्रह और लोभ से बचना हो तो सन्तोष और त्याग जैसी गुण-पोषक प्रवृत्तियो मे अपने-आपको खपाना ही होगा।

सस्कृतिमात्र का सकेत लोभ और मोह को घटाने व निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी सभव ही नही, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। जो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्ति-पूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी सभव हैं। अतएव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का सकेत करती है। (द० औ० चिं० खं० २, पृ० १३२-१४२)

: ५ :

जैन तत्त्वज्ञान

विश्व के बाह्य एव आन्तरिक स्वरूप के विषय मे तथा सामान्य एव व्यापक नियमो के सम्बन्ध मे तात्त्विक दृष्टि से विचारणा ही तत्त्वज्ञान है। ऐसा नहीं है कि ऐसी विचारणा किसी एक देश, किसी एक जाति या किसी एक प्रजा मे ही पैदा होती हो और क्रमश. विकास पाती हो, परन्तु इस प्रकार की विचारणा मनुष्यत्व का विशिष्ट स्वरूप होने से उसका जल्दी या देर से प्रत्येक देश मे बसनेवाली प्रत्येक जाति की मानवप्रजा मे कमोबेश अश मे उद्भव होता है। ऐसी विचारणा भिन्न-भिन्न प्रजाओं के पारस्परिक ससर्ग के कारण, और कभी-कभी तो सर्वथा स्वतत्र रूप से भी, विशेष विकसित होती है तथा सामान्य भूमिका मे से गुजरकर वह अनेक रूपों मे प्रस्फुटित होती है ।

प्रारम्भ मे लेकर आज तक भूमण्डल पर मानवजाति ने जो तात्त्विक विचारणाएँ की है वे सभी आज विद्यमान नही है तथा उन सब विचारणाओं का क्रमिक इतिहास भी पूर्ण रूप से हमारे समक्ष नहीं है, फिर भी इस समय जो कुछ सामग्री हमारे सामने उपस्थित है और उस विषय मे हम जो कुछ थोडा-बहुत जानते है, उस पर से इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न एव परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली चाहे जितनी धाराएँ क्यो न हो, परन्तु उन सभी विचारधाराओं का सामान्य स्वरूप एक है और वह है . विश्व के बाह्य एव आन्तरिक स्वरूप के सामान्य तथा व्यापक नियमो के रहस्य की शोध करना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का मूल

कोई एक मानव-व्यक्ति प्रारम्भ से ही पूर्ण नही होता, वह बाल्य आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे से गुजरकर और इस प्रकार अपने अनुभवो को

बढाकर क्रमश पूर्णता की दिशा मे आगे बढता है। यही बात मनुष्यजाति के बारे मे भी है। मनुष्यजाति मे भी बाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा-विशेष से होती ही हैं। उसका जीवन व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा अत्यन्त लम्बा और विशाल होने से उसकी बाल्य आदि अवस्थाओं का समय भी उतना ही लम्बा हो यह स्वाभाविक है। मनुष्यजाति ने जब प्रकृति की गोद मे जन्म लिया और पहले-पहल बाह्य विश्व की ओर आँखे खोलकर देखा, तब उसके सामने अद्भुत एव चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुई। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामण्डल तथा दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह और मेघगर्जना एव बिजली की चकाचौंध ने उस का ध्यान आकर्षित किया। मानव का मानस इन सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ और उनके बारे मे अनेक प्रश्न उसके मन मे पैदा होने लगे। मानव-मानस मे जैसे बाह्य विश्व के गूढ एव अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय मे तथा उसके सामान्य नियमों के विषय मे विविध प्रश्न उत्पन्न हुए, वैसे आन्तरिक विश्व के गूढ एव अतिसूक्ष्म स्वरूप के बारे में भी उसके मन मे विविध प्रश्न पैदा हुए। इन प्रश्नो की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रथम सोपान है। ये प्रश्न चाहे जितने हो और कालक्रम से उनमें से दूसरे मुख्य एव उपप्रश्न भी चाहे जितने पैदा हुए हो, परन्तु सामान्य रूप से ये सब प्रश्न सक्षेप मे निम्न प्रकार से दिखलाये जा सकते है।

तात्त्विक प्रश्न

सतत परिवर्तनशील प्रतीत होनेवाला यह बाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा ? किस मे से उत्पन्न हुआ होगा ? अपने आप उत्पन्न हुआ होगा या फिर किसी ने उत्पन्न किया होगा ? और उत्पन्न न हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसा ही था और ऐसा ही रहेगा ? यदि उसके कारण हो तो वे स्वय परि-वर्तन-रहित शाश्वत ही होने चाहिए या परिवर्तनशील होने चाहिए ? और वे कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के ही होगे या फिर समग्र बाह्य विश्व का कारण केवल एकरूप ही होगा ? इस विश्व की व्यवस्थित एव नियमबद्ध जो सचा-लना और रचना दिखाई देती है वह बुद्धिपूर्वक होनी चाहिए अथवा यन्त्रवत् अनादिसिद्ध होनी चाहिए ? यदि बुद्धिपूर्वक विश्वव्यवस्था हो तो वह

किस की बुद्धि की अपेक्षा रखती है ? क्या वह बुद्धिमान तत्त्व स्वय तटस्थ रहकर विश्व का नियमन करता है या वह स्वय विश्व के रूप मे परिणत होता है अथवा दिखता है ?

इसी प्रकार आन्तरिक विश्व के बारे मे भी प्रश्न हुए कि जो इस बाह्य विश्व का उपभोग करता है या जो बाह्य विश्व के बारे मे विचार करता है वह तत्त्व क्या है ? क्या वह अह रूप से प्रतिभासित तत्त्व बाह्य विश्व के जैसी ही प्रकृति का है अथवा किसी भिन्न स्वभाव का है ? यह आन्तरिक तत्त्व अनादि है अथवा वह भी कभी किसी अन्य कारण मे से उत्पन्न हुआ है ? और, अह रूप से भासित अनेक तत्त्व वस्तुतः भिन्न ही हैं अथवा किसी एक मूल तत्त्व की निर्मिति है ? ये सभी सजीव तत्त्व वस्तुत. भिन्न हों तो वे परिवर्तनशील है या मात्र कूटस्थ हैं ? इन तत्त्वो का कभी अन्त होगा या फिर काल की दृष्टि से ये अन्तरहित ही हैं ? इसी प्रकार ये सब देहमर्यादित तत्त्व वास्तव मे देश की दृष्टि से व्यापक हैं या परिमित हैं ?

ये और इनके जैसे दूसरे अनेक प्रश्न तत्त्वचिन्तन के प्रदेश मे उपस्थित हुए। इन सबका अथवा इन मे से कतिपय का उत्तर हम भिन्न-भिन्न प्रजाओ के तात्त्विक चिन्तन के इतिहास मे अनेक प्रकार से देखते है । यूनानी विचारको ने अतिप्राचीन समय से इन प्रश्नो की छानबीन शुरू की। उनके चिन्तन का अनेक रूपों मे विकास हुआ, जिसका पाश्चात्य तत्त्वज्ञान मे खास महत्त्व का स्थान है। आर्यावर्त के विचारको ने तो यूनानी चिन्तको के हज़ारो वर्ष पहले से इन प्रश्नों के उत्तर पाने के विविध प्रयत्न किये, जिनका इतिहास हमारे समक्ष स्पष्ट है।

उत्तरों का संक्षिप्त वर्गीकरण

आर्य विचारको द्वारा एक-एक प्रश्न के बारे मे दिये गये भिन्न-भिन्न उत्तर और उनके बारे मे भी मतभेद की शाखाएँ अपार है, परन्तु सामान्य रूप से सक्षेप मे उन उत्तरो का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

एक विचारप्रवाह ऐसा शुरू हुआ कि वह बाह्य विश्व को जन्य मानता, परन्तु वह विश्व किसी कारण मे से सर्वथा नवीन—पहले न हो वैसी—उत्पत्ति का इन्कार करता और कहता कि जैसे दूध मे मक्खन छिपा रहता

है और कभी उसका आविर्भाव मात्र होता है, वैसे यह समग्र स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण में से आविर्भूत मात्र होता रहता है और वह मूल कारण तो स्वत सिद्ध अनादि है।

दूसरा विचारप्रवाह ऐसा मानता कि यह बाह्य विश्व किसी एक कारण से पैदा नही होता। स्वभाव मे ही भिन्न-भिन्न ऐसे उसके अनेक कारण हैं; और उन कारणो मे भी विश्व दूध मे मक्खन की तरह छिपा हुआ नही था, परन्तु जैसे लकडियो के अलग-अलग टुकडो से एक नयी ही गाडी तैयार होती है, वैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल कारणो के सश्लेषण-विश्लेषणों से यह बाह्य विश्व सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी और दूसरा कार्यवादी अथवा आरम्भवादी—ये दोनो विचारप्रवाह यद्यपि बाह्य विश्व के आविर्भाव अथवा उत्पत्ति के विषय मे मतभेद रखते थे, तथापि आन्तरिक विश्व के स्वरूप के बारे मे सामान्यत: एकमत थे। ये दोनो ऐसा मानते थे कि अह नामक आत्मतत्त्व अनादि है। न तो वह किसी का परिणाम है और न वह किसी कारण मे से उत्पन्न हुआ है। जैसे वह आत्मतत्त्व अनादि है वैसे ही देश एव काल इन दोनो दृष्टियो से वह अनन्त भी है, और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्न-भिन्न है, वास्तव मे वह एक नही है।

तीसरा विचार-प्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य तत्त्व और आन्तरिक जीव-जगत दोनो को किसी एक अखण्ड सत् तत्त्व का परिणाम मानता और बाह्य अथवा आन्तरिक जगत की प्रकृति या कारण मे मूलत. किसी भी प्रकार के भेद मानने से इन्कार करता था।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

उपर्युक्त तीन विचारप्रवाहो को हम अनुक्रम से प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी कह सकते हैं। इनमे से प्रारम्भ के दो विचारप्रवाहों से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उनसे भिन्न एक चौथा विचारप्रवाह भी उनके साथ प्रचलित था। वह विचारप्रवाह था तो परमाणुवादी, परन्तु वह दूसरे विचार-प्रवाह की भांति बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओं को मूलत: भिन्न-भिन्न मानने के पक्ष मे न था; मूलत: सभी परमाणु

एक-जैसी प्रकृति के हैं ऐसा वह मानता था। और परमाणुवाद का स्वीकार करने पर भी उसमे से सिर्फ विश्व उत्पन्न ही होना है ऐसा न मानकर, प्रकृतिवादी की भाँति परिणाम और आविर्भाव मानने के कारण, वह ऐसा कहता कि परमाणुपुंज मे से बाह्य विश्व स्वत परिणत होता है। इस प्रकार इस चौथे विचार-प्रवाह का झुकाव परमाणुवाद की भूमिका पर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समस्त बाह्य विश्व को आविर्भाववाला न मानकर उसमे से अनेक कार्यो को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह ऐसा भी कहता था कि बाह्य विश्व मे कितनी ही वस्तुएँ ऐसी भी है, जो बिना किसी पुरुषप्रयत्न के परमाणुरूप कारणो मे से उत्पन्न होती है। वैसी वस्तुएँ तिल मे से तेल की तरह अपने कारणो मे से केवल आविर्भूत होती है, परन्तु सर्वथा नयी पैदा नही होती, जबकि बाह्य विश्व मे ऐसी भी बहुत-सी वस्तुएँ है, जो अपने जड कारणो मे से उत्पन्न होती है, परन्तु अपनी उत्पत्ति मे किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा भी रखती है। जो पदार्थ पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेते है वे अपने जड कारणो मे तिल मे तेल की भाँति छिपे हुए नही होते, परन्तु वे तो सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होते हैं। जब कोई बढई लकडियो के अलग-अलग टुकडे इकट्ठे करके उनसे एक मेज तैयार करता है तब वह मेज लकडियो के टुकडो मे, तिल मे तेल की भाँति, छिपी नही होती, पर मेज बनानेवाले बढई की बुद्धि मे कल्पना के रूप में होती है और वह लकडी के टुकडो के द्वारा मूर्तरूप धारण करती है। यदि बढई चाहता तो लकडियो के उन्ही टुकडो मे मेज न बनाकर गाय, गाडी या दूसरी कोई चीज बना सकता था। तिल मे से तेल निकालने की बात इससे सर्वथा भिन्न है। कोई चाहे जितना विचार करे या चाहे, तो भी वह तिल मे से घी या मक्खन नही निकाल सकता। इस प्रकार प्रस्तुत चौथा विचार-प्रवाह परमाणुवादी होने पर भी एक ओर परिणाम एव आविर्भाव मानने के बारे मे प्रकृतिवादी की विचार-प्रवाह के साथ मेल खाता है, तो दूसरी ओर कार्य एव उत्पत्ति के बारे मे परमाणुवादी विचार प्रवाह के साथ मेल खाता है।

यह तो बाह्य विश्व के बारे मे चौथे विचारप्रवाह की मान्यता का निर्देश

किया, परन्तु आत्मतत्त्व के बारे मे तो उसकी मान्यता उपर्युक्त तीनो विचारप्रवाहो से भिन्न ही थी। वह मानता था कि देहभेद से आत्मा भिन्न है, परन्तु वे सभी आत्मा देशदृष्टि से व्यापक नही है तथा केवल कूटस्थ भी नही है। वह ऐसा मानता था कि जैसे बाह्य विश्व परिवर्तनशील है वैसे आत्मा भी परिणामी होने से सतत परिवर्तनशील है। आत्मतत्त्व सकोच-विस्तारशील भी है और इसीलिए वह देहपरिमाण है।

यह चौथा विचारप्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है। भगवान महावीर के पहले बहुत समय से यह विचारप्रवाह चला आ रहा था और वह अपने ढंग से विकास साधता तथा स्थिर होता जा रहा था। आज इस चौथे विचारप्रवाह का जो स्पष्ट, विकसित और स्थिर रूप हमे उपलब्ध प्राचीन या अर्वाचीन जैन शास्त्रो मे दृष्टिगोचर होता है वह अधिकाशत भगवान महावीर के चिन्तन का परिणाम है। जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर ये दो मुख्य शाखाए है। दोनो का साहित्य अलग-अलग है, परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है वह बिना तनिक भी परिवर्तन के एक-सा ही रहा है। यहाँ एक खास बात उल्लेखनीय है और वह यह कि वैदिक और बौद्ध मत मे अनेक शाखा-प्रशाखाए हुई है। उनमे से कई तो एक-दूसरे से बिलकुल विरोधी मन्तव्य भी रखती है। इन सब भेदो मे विशेषता यह है कि वैदिक एव बौद्ध मत की सभी शाखाओ मे आचार-विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तन के बारे मे कुछ-न-कुछ मतभेद पाया जाता है, जबकि जैन मत के सभी भेद-प्रभेद केवल आचारभेद पर आधारित है, उनमे तत्त्वचिन्तन के बारे मे कोई मौलिक मतभेद अब तक देखा-सुना नही गया। केवल आर्य तत्त्वचिन्तन के इतिहास मे ही नही, परन्तु मानवीय तत्त्व-चिन्तन के समग्र इतिहास मे यह एक ही ऐसा दृष्टान्त है कि इतने-लम्बे समय के विशिष्ट इतिहास के बावजूद भी जिसके तत्त्व-चिन्तन का प्रवाह मौलिक रूप से अखण्डित ही रहा हो।

पौरस्त्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पौरस्त्य हो या पाश्चात्य, सभी के इतिहास मे हम देखते है कि यह केवल जगत, जीव और ईश्वर के स्वरूपचिन्तन मे ही परिसमाप्त

नही होता, परन्तु अपने वर्तुल मे चारित्रका प्रश्न भी हाथ पर लेता है। कमोवेश अश मे, एक या दूसरे रूप में, प्रत्येक तत्त्वज्ञान में जीवन-शोधन की मीमासा का समावेश होता है। अलबत्ता, पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान के विकास में हम इस बारे मे थोडा अन्तर भी देखते हैं। यूनानी तत्त्वचिंतन का प्रारम्भ मात्र विश्व के स्वरूप विषयक प्रश्नों मे से होता है। आगे जाकर ईसाइयत के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ने पर उसमे जीवनशोधन का प्रश्न भी दाखिल होता है और फिर बाद मे तो पश्चिमीय तत्त्वचिन्तन की एक शाखा मे जीवन-शोधन की मीमासा भी खास महत्त्व का भाग लेती है। ठेठ अर्वाचीन समय तक भी रोमन केथोलिक सम्प्रदाय में तत्त्व-चिन्तन को जीवन-शोधन के विचार के साथ सकलित हम देख सकते हैं। परन्तु आर्य तत्त्वज्ञान के इतिहास मे हम एक खास विशेषता देखते हैं और वह यह कि आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही मानो जीवन-शोधन के प्रश्न में से हुआ हो ऐसा लगता है, क्योंकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्ध एव जैन इन तीनो मुख्य शाखाओ मे एक समान रूप से तत्त्वचिन्तन के साथ जीवन-शोधन का चिन्तन जुडा हुआ है। आर्यावर्त मे कोई भी दर्शन ऐसा नही है, जो केवल विश्वचिन्तन करके सन्तोष मानता हो, परन्तु इससे उल्टा हम देखते है कि प्रत्येक मुख्य तथा उसकी शाखारूप दर्शन जगत, जीव एव ईश्वर के बारे मे अपने विशिष्ट विचार स्पष्ट करके अन्त में जीवन-शोधन के प्रश्न की चर्चा करता है और जीवन-शोधन की प्रक्रिया दिखलाकर विराम लेता है। इसीलिए हम प्रत्येक आर्य-दर्शन के मूल ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मोक्ष का उद्देश्य और अन्त मे उसी का उपसहार देखते हैं। इसी कारण साख्यदर्शन मे जैसे अपने विशिष्ट योग का स्थान है और वह योगदर्शन से अभिन्न है, वैसे ही न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन मे भी योग के मूल सिद्धान्त मान्य हैं। बौद्ध दर्शन मे भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया का खास स्थान है। इसी प्रकार जैन दर्शन ने भी योगप्रक्रिया के बारे मे अपने पूर्ण विचार प्रकट किये है।

जीवनशोधन के मौलिक प्रश्नों की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैन दर्शन मे मुख्य दो भाग है : एक तत्त्व-

चिन्तन का और दूसरा जीवन-शोधन का। यहाँ एक बात खास उल्लेखनीय है और वह यह कि वैदिक या बौद्ध दर्शन की कोई भी परम्परा लो और उसकी जैन दर्शन के साथ तुलना करो तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होगी कि इन सब परम्पराओ मे जो मतभेद है वह दो बातो को लेकर है : एक तो जगत, जीव और ईश्वर के स्वरूप को लेकर तथा दूसरा आचार के स्थूल एव बाह्य विधिविधान एव स्थूल रहन-सहन को लेकर। परन्तु आर्य दर्शन की प्रत्येक परम्परा मे जीवन-शोधन-विषयक मौलिक प्रश्न तथा उनके उत्तरो मे तनिक भी मतभेद नही है। कोई ईश्वर माने या न माने, कोई प्रकृति-वादी हो या परमाणुवादी, कोई आत्मभेद मानता हो या आत्मा का एकत्व स्वीकार करता हो, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने अथवा उससे उल्टा माने, इसी प्रकार कोई यज्ञयाग द्वारा भक्ति पर भार दे या कोई अधिक कठोर नियमो का अवलम्बन लेकर त्याग पर भार दे,—परन्तु प्रत्येक परम्परा मे इतने प्रश्न एक-से हैं : दुःख है या नही ? हो तो उसका कारण क्या है ? उस कारण का नाश शक्य है ? और शक्य हो तो वह किस प्रकार ? अन्तिम साध्य क्या होना चाहिए ? इन प्रश्नो के उत्तर भी प्रत्येक परम्परा मे एक-से ही है। शब्दभेद हो सकता है, सक्षेप या विस्तार हो सकता है, परन्तु प्रत्येक का उत्तर यही है कि अविद्या और तृष्णा दुःख के कारण हैं। उनका नाश सम्भव है। विद्या से तथा तृष्णाछेद द्वारा दुःख के कारणो का नाश होते ही दुःख स्वयमेव नष्ट होता है, और यही जीवन का मुख्य साध्य है। आर्य दर्शनो की परम्पराएँ जीवन-शोधन के मौलिक विचार के बारे मे तथा उसके नियमो के बारे मे सर्वथा एकमत है। अतः यहाँ जैन दर्शन के बारे मे कुछ भी कहना हो तो मुख्य रुप से उसकी जीवन-शोधन की मीमासा का ही सक्षेप मे कथन करना अधिक प्रासगिक है।

जीवनशोध की जैन प्रक्रिया

जैन दर्शन का कहना है कि आत्मा स्वाभाविक रूप से शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। उसमें जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दिखाई देती है वह अज्ञान और मोह के अनादि प्रवाह के कारण है। अज्ञान को कम करने और उसका सर्वथा नाश करने तथा मोह का विलय करने के लिए जैन दर्शन

एक ओर विवेक-शक्ति का विकास साधने की बात कहता है और दूसरी ओर वह राग द्वेष के सस्कारो को नष्ट करने की बात कहता है । जैन दर्शन आत्मा को तीन विभागो मे बाँटता है जब अज्ञान और मोह का पूर्ण प्राबल्य हो और उसके कारण आत्मा वास्तविक तत्त्व का विचार ही न कर सके तथा सत्य एव स्थायी सुख की दिशा मे एक भी कदम उठाने की इच्छा तक न कर सके, तब वह बहिरात्मा कहलाती है । जीव की यह प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र का बन्द होना सम्भव ही नही है, और लौकिक दृष्टि मे चाहे जितना विकास दिखाई दे, परन्तु वास्तव मे वह आत्मा अविकसित ही होती है ।

विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होने पर तथा रागद्वेष के सस्कारो का बल घटने पर दूसरी भूमिका शुरू होती है । इसे जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है । इस भूमिका के समय यद्यपि देहधारण के लिए उपयोगी सभी सासारिक प्रवृत्तियाँ कमोबेश चलती हैं, तथापि विवेकशक्ति के विकास एव रागद्वेष की मन्दता के अनुपात मे वे प्रवृत्तियाँ अनासक्तियुक्त होती हैं। इस दूसरी भूमिका मे प्रवृत्ति के होने पर भी उसमे आन्तरिक दृष्टि से निवृत्ति का तत्त्व होता है ।

दूसरी भूमिका के अनेक सोपान पार करने पर आत्मा परमात्मा की दशा प्राप्त करती है । यह जीवन-शोधन की अन्तिम एव पूर्ण भूमिका है ।

जैन दर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुँचने के पश्चात् पुनर्जन्म का चक्र सर्वदा के लिए सर्वथा रुक जाता है ।

ऊपर के सक्षिप्त वर्णन पर से हम देख सकते है कि अविवेक (मिथ्या-दृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही ससार हैं अथवा ससार के कारण हैं। इससे उल्टा, विवेक और वीतरागत्व ही मोक्ष है अथवा मोक्ष का मार्ग है। इसी जीवन-शोधन की सक्षिप्त जैन मीमासा का अनेक जैन-ग्रन्थो मे, अनेक रूप से, सक्षेप या विस्तारपूर्वक, तथा भिन्न-भिन्न परिभाषाओ में वर्णन पाया जाता है और यही जीवनमीमासा अक्षरशः वैदिक एव बौद्ध दर्शनो में भी पद-पद पर दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी तथा आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही सक्षेप मे निर्देश किया । इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहा पर इतर भारतीय दर्शनों के विचारो के साथ कुछ तुलना करना योग्य लगता है ।

(क) जैन दर्शन जगत को मायावादी की भाँति मात्र आभासरूप या मात्र काल्पनिक नही मानता, परन्तु वह जगत को सत् मानता है । ऐसा होने पर भी जैनदर्शनसम्मत सत्-तत्त्व चार्वाक के जैसा केवल जड अर्थात् सहज चैतन्यरहित नही है । इसी प्रकार जैनदर्शनसम्मत सत्-तत्त्व शाकर वेदान्त के जैसा केवल चैतन्यमात्र भी नही है, परन्तु जिस प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा और बौद्ध दर्शन सत्-तत्त्व को सर्वथा स्वतत्र तथा परस्पर भिन्न जड एव चेतन इन दो विभागो मे बाटते है, उसी प्रकार जैन दर्शन भी सत्-तत्त्व की अनादिसिद्ध जड एव चेतन इन दो प्रकृतियों का स्वीकार करता है, जो देश एव काल के प्रवाह मे साथ रहने पर भी मूलत सर्वथा स्वतत्र है । न्याय, वैशेषिक और योग दर्शन आदि ऐसा मानते हैं कि इस जगत का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड और चेतन इन दो पदार्थों पर से निर्मित होता हो, परन्तु उस कार्य के पीछे कोई अनादि-सिद्ध समर्थ चेतनशक्ति का हाथ होता है, उस ईश्वरीय हाथ के सिवा ऐसा अद्भुत कार्य सम्भव नही, परन्तु जैन दर्शन वैसा नही मानता । वह प्राचीन साख्य, पूर्वमीमासक और बौद्ध आदि की भाँति मानता है कि जड एव चेतन ये दोनो सत्-प्रवाह स्वयमेव, किसी तीसरी विशिष्ट शक्ति की सहायता के बिना ही, बहते रहते हैं, और इसीलिए वह जगत की उत्पत्ति या उसकी व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसे किसी स्वतत्र एव अनादिसिद्ध व्यक्ति को मानने से इन्कार करता है । यद्यपि जैन दर्शन न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि की तरह जड सत्-तत्त्व को अनादिसिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप मानता है और साख्य की तरह एक व्यक्तिरूप नही मानता, फिर भी वह साख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड सत्-तत्त्वो में स्थान देता है ।

इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार जगत का परिवर्तन-प्रवाह अपने आप ही प्रवाहित होता है, तथापि जैन दर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व मे जो घटनाए किसी की बुद्धि एव प्रयत्न पर आधारित दिखती है उन घटनाओं के पीछे ईश्वर का नही किन्तु उन घटनाओ के परिणाम मे भाग लेनेवाले ससारी जीव का हाथ है, अर्थात् वैसी घटनाएँ ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से किसी ससारी जीव के बुद्धि एव प्रयत्न पर अवलम्बित होती हैं। इस बारे मे प्राचीन साख्य एव बौद्ध दर्शन के विचार जैन दर्शन जैसे ही है।

वेदान्त दर्शन की भाँति जैन दर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखण्ड नही मानता, परन्तु सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक एव बौद्ध की भाँति वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। ऐसा होने पर भी उनके साथ भी जैन दर्शन का थोड़ा मतभेद है और वह यह कि जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तन-प्रवाह नही है तथा साख्य-न्याय आदि की तरह मात्र कूटस्थ भी नही है, किन्तु जैन दर्शन कहता है कि मूल मे सचेतन तत्त्व ध्रुव अर्थात् अनादि-अनन्त होने पर भी देश-काल के प्रभाव से वह विमुक्त नही रह सकता। इस प्रकार जैन मत के अनुसार जीव भी जड़ की भाँति परिणामिनित्य है। जैन दर्शन ईश्वर जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा स्वतत्ररूप से नही मानता और फिर भी ईश्वर के समग्र गुण वह जीवमात्र मे स्वीकार करता है। इससे जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव मे ईश्वर की शक्ति है, फिर भले ही वह आवरण से दबी हो; परन्तु यदि जीव योग्य दिशा मे प्रयत्न करे तो वह अपने मे रही हुई ईश्वरीय शक्ति को पूर्ण रूप से विकसित कर स्वय ही ईश्वर बन सकता है। इस प्रकार जैन मान्यता के अनुसार ईश्वर तत्त्व को अलग स्थान न होने पर भी उसमे ईश्वरतत्त्व की मान्यता को स्थान है और उसकी उपासना का भी वह स्वीकार करता है। जो-जो जीवात्मा कर्मवासनाओ से पूर्णत: मुक्त हुए हैं वे सभी समानभाव से ईश्वर हैं। उनका आदर्श सम्मुख रख-कर अपने मे रही हुई वैसी पूर्ण शक्ति का प्राकट्य ही जैन उपासना का ध्येय है। शांकर वेदान्त जैसे मानता है कि जीव स्वयं ही ब्रह्म है, वैसे ही जैन दर्शन कहता है कि जीव स्वयं ही ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत्त है और अविद्या के

दूर होने पर वह अनुभव में आता है; ठीक वैसे ही जैन दर्शन के अनुसार जीव का परमात्मभाव आवृत है और उस आवरण के दूर होने पर वह पूर्ण रूप से अनुभव में आता है। इस बारे मे वस्तुतः वेदान्त और जैन के बीच व्यक्तिबहुत्व के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नही है।

(ख) जैन शास्त्र मे जो सात तत्त्व कहे हैं उनमे से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वो के बारे मे ऊपर तुलना की। अब अवशिष्ट पाँच में से वस्तुत. चार[1] तत्त्व ही रहते हैं। इन चार तत्त्वो का सम्बन्ध जीवन-शोधन अथवा आध्यात्मिक विकासक्रम के साथ है, अतः इन्हें चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। वे चार तत्त्व हैं : बन्ध, आस्रव, सवर और मोक्ष। इन चार तत्त्वो का बौद्ध शास्त्रो मे अनुक्रम से दु.ख, दु खहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्यो के रूप में वर्णन मिलता है। सांख्य एवं योगशास्त्र मे इन्ही का हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कहकर चतुर्व्यूह के नाम से वर्णन पाया जाता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन मे यही बात ससार, मिथ्याज्ञान, सम्यक्ज्ञान और अपवर्ग के नाम से कही है। वेदान्त दर्शन मे संसार, अविद्या, ब्रह्मसाक्षात्कार और ब्रह्मभाव के नाम से यही बात दिखलाई गई है।

जैन दर्शन में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की तीन सक्षिप्त भूमिकाओं का तनिक विस्तार से चौदह भूमिकाओं के रूप में वर्णन पाया जाता है, जो जैन परम्परा मे गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवासिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थों मे भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की इस प्रकार कुल चौदह आत्मिक भूमिकाओं का वर्णन आता है। सांख्य-योग दर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाच चित्त-भूमिकाएँ भी इन्हीं चौदह भूमिकाओं का सक्षिप्त वर्गीकरण मात्र है। बौद्ध दर्शन में भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि छः भूमिकाओं में विभक्त करके वर्णन आता है। इस प्रकार हम सभी भारतीय दर्शनों में संसार से मोक्ष पर्यन्त की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणो के विषय में

---

[1]. निर्जरा तत्त्व की परिगणना यहाँ नही की है। आंशिक कर्मक्षय निर्जरा है और सर्वांशतः कर्मक्षय मोक्ष है।—संपादक

सर्वथा एक मत और एक विचार देखते हैं, तब प्रश्न उठता है कि जब सभी दर्शनो के विचारों में मौलिक एकता है तब पन्थ-पन्थ के बीच कभी न मिट सके इतना अधिक भेद क्यों दिखता है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पन्थो की भिन्नता के मुख्य दो कारण हैं : तत्त्वज्ञान की भिन्नता तथा बाह्य आचार-विचार की भिन्नता। कई पन्थ ऐसे हैं, जिनके बीच बाह्य आचार-विचार की भिन्नता के अतिरिक्त तत्त्व-ज्ञान की विचारसरणी मे भी अमुक भेद है; जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पन्थ। कई पन्थ या उनकी शाखाए ऐसी भी हैं जिनकी तत्त्व-ज्ञान-विषयक विचारसरणी मे खास भेद नही होता, उनका भेद मुख्य रूप से बाह्य आचार के आधार पर पैदा होता है और पोषित होता है; उदाहरणार्थ, जैन दर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को इस वर्ग मे गिनाया जा सकता है।

आत्मा को कोई एक माने या अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या न माने इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतमभाव पर आधारित है और वैसा तरतमभाव अनिवार्य है। इसी प्रकार बाह्य आचार एवं नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद मे से पैदा होते है। कोई काशी जाकर गगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन मे पवित्रता माने, कोई बुद्ध-गया और सारनाथ में जाकर बुद्ध के दर्शन मे कृतकृत्यता माने, कोई शत्रुंजय के दर्शन मे सफलता माने, कोई मक्का अथवा जेरूसलम जाकर धन्यता समझे; इसी प्रकार कोई एकादशी के तप-उपवास को अतिपवित्र माने, कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व दे; कोई तप ऊपर अधिक भार न देकर दान पर भार दे, तो दूसरा कोई तप ऊपर भी अधिक भार दे। इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचि-भेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटेगा नही। भेद की उत्पादक एवं पोषक इतनी अधिक बातों के होने पर भी सत्य एक ऐसा पदार्थ है जो वास्तव में खण्डित होता ही नही है। इसीलिए हम उपर्युक्त आध्यात्मिक विकासक्रम की तुलना में देखते हैं कि निरूपणपद्धति, भाषा और रूप चाहे जो हो, परन्तु जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव में प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य पूर्ण करने से पूर्व जैन दर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दों की चर्चा पर ही समग्र जैन साहित्य का निर्माण हुआ है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो मुद्दों द्वारा ही स्पष्ट की जा सकती है। सत्य वस्तुतः एक ही होता है, परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसे एक रूप में ग्रहण नही कर सकती।। अतः सत्य के दर्शन के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि-मर्यादा विकसित करे और उसमें सत्यग्रहण की यथासम्भव सभी रीतियों को स्थान दे। इस उदात्त और विशाल भावना में से अनेकान्त की विचारसरणी का जन्म हुआ है। इस सरणी का आयोजन वादविवाद मे जय प्राप्त करने के लिए अथवा वितण्डावाद के दावपेच खेलने के लिए अथवा तो शब्दच्छल की चालाकी का खेल खेलने के लिए नहीं हुआ है, परन्तु इसका आयोजन तो जीवन-शोधन के एक भाग के रूप में विवेकशक्ति को विकसित करने और सत्य की दिशा में आगे बढने के लिए हुआ है। इससे अनेकान्त-विचारसरणी का सही अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रखकर उसके सभी अंशों और भागो को एक विशाल मानस-वर्तुल मे योग्य स्थान देना।

जैसे-जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढ़ती जाती है वैसे वैसे उसकी दृष्टि-मर्यादा बढ़ने के कारण उसे अपने भीतर रही हुई सकुचितताओं और वासनाओं के दबाव का सामना करना पड़ता है। जब तक मनुष्य सकुचितता और वासनाओं का सामना न करे तब तक वह अपने जीवन में अनेकान्त के विचारो को वास्तविक रूप से स्थान दे ही नहीं सकता। इसीलिए अनेकान्त के विचार की रक्षा एवं वृद्धि के प्रश्न से ही अहिंसा का प्रश्न पैदा होता है। जैन अहिंसा सिर्फ चुपचाप बैठे रहने में या धन्धे-रोजगार का त्याग करने में या ठूंठ-सी निश्चेष्ट स्थिति साधने में परिसमाप्त नहीं होती, परन्तु वह अहिंसा सच्चे आत्मिक बल की अपेक्षा रखती है। किसी भी विकार के पैदा होने पर, किसी भी वासना के झांकने पर अथवा किसी भी संकुचितता के मन में आने पर जैन अहिंसा कहती है कि तू इन विकारों, इन वासनाओं और इन संकुचितताओं से मत आहत हो, मत हार, दब नहीं। तू उनका सामना कर और उन विरोधी बलों को पराजित कर। आध्या-

त्मिक जय का यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिंसा है। इसे संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो अथवा कोई भी वैसा आध्यात्मिक नाम दो, परन्तु वह वस्तुत· अहिंसा ही है। और, जैन दर्शन कहता है कि अहिंसा केवल स्थूल आचार नही है, परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाकस्वरूप आया हुआ जीवनोत्कर्षक आचार है।

ऊपर कहे गये अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप मे से उत्पन्न किसी भी बाह्याचार को अथवा उस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिए निर्मित किसी भी आचार को जैन तत्त्वज्ञान मे अहिंसा के रूप मे स्थान है। इसके विपरीत, ऊपर-ऊपर से अहिंसामय दिखाई देनेवाले चाहे जिस आचार अथवा व्यवहार के मूल मे यदि उपर्युक्त अहिंसा का आन्तरिक तत्त्व विद्यमान न हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है अथवा अहिंसा का पोषक है ऐसा नही कहा जा सकता।

यहा जैन तत्त्वज्ञान-विषयक विचार में प्रमेयचर्चा का जान-बूझकर विस्तार नही किया; सिर्फ तद्विषयक जैन विचारसरणी का इशारा ही किया है। आचार के बारे मे भी बाह्य नियमों और उनकी व्यवस्था के सम्बन्ध मे जान-बूझकर चर्चा नही की है, परन्तु आचार के मूल तत्त्वो की जीवन-शोधन की दृष्टि से तनिक चर्चा की है, जिन्हे जैन परिभाषा मे आस्रव, सवर आदि तत्त्व कहते है।

(द० अ० चि० भा० २, पृ० १०४९-१०६१)

: ६ :

आध्यात्मिक विकासक्रम

मोक्ष यानी आध्यात्मिक विकास की पूर्णता। ऐसी पूर्णता अचानक प्राप्त नही हो सकती, उसे प्राप्त करने मे अमुक समय व्यतीत करना पड़ता है। इसीलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम मानना पड़ता है। तत्त्वजिज्ञासुओ के हृदय मे स्वाभाविक रूप से ऐसा प्रश्न उठता है कि इस आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का क्रम कैसा है ?

आत्मा की तीन अवस्थाएँ

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के क्रम के विचार के साथ ही उसके आरम्भ का तथा समाप्ति का विचार आता है। उसका आरम्भ उसकी पूर्वसीमा और उसकी समाप्ति उसकी उत्तरसीमा है। पूर्वसीमा से लेकर उत्तरसीमा तक का विकास का वृद्धिक्रम ही आध्यात्मिक उत्क्रान्तिक्रम की मर्यादा है। उसके पूर्व की स्थिति आध्यात्मिक अविकास अथवा प्राथमिक ससार-दशा है और उसके बाद की स्थिति मोक्ष अथवा आध्यात्मिक विकासक्रम की पूर्णता है। इस प्रकार काल की दृष्टि से सक्षेप मे आत्मा की अवस्था तीन भागो मे विभक्त हो जाती है . (अ) आध्यात्मिक अविकास, (ब) आध्यात्मिक विकासक्रम, (क) मोक्ष।

(अ) आत्मा स्थायी सुख और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहती है तथा दुःख एव अज्ञान उसे तनिक भी पसन्द नही, फिर भी वह दु.ख और अज्ञान के भॅवर मे पडी हुई है इसका क्या कारण ? यह एक गूढ प्रश्न है। परन्तु इसका उत्तर तत्त्वज्ञो को प्राप्त हुआ है। वह यह कि 'सुख एव ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक वृत्ति के कारण आत्मा का पूर्णानन्द और पूर्णज्ञानमय स्वरूप सिद्ध होता है, क्योकि पूर्णानन्द और पूर्णज्ञान जब तक प्राप्त न करे तब तक वह सन्तोष प्राप्त नही कर सकती, और फिर भी उस पर अज्ञान

और रागद्वेष के ऐसे प्रबल सस्कार जमे हुए हैं कि उनके कारण उसे सच्चे सुख का भान नही हो सकता, और कुछ भान होता है तो भी वह सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति नही कर सकती।' अज्ञान चेतना के स्फुरण का विरोधी तत्त्व है, अत. जब तक अज्ञान की तीव्रता होती है तब तक चेतना का स्फुरण अत्यन्त मन्द होता है। उसकी वजह से सच्चे सुख और सच्चे सुख के साधन का भास ही नही होने पाता। इस कारण आत्मा स्वय एक विषय मे सुख पाने की धारणा से प्रवृत्ति करती है और उसमे निराश होने पर दूसरे विषय की ओर झुकती है। दूसरे विषय मे निराश होने पर वह तीसरे विषय की ओर दौड़ती है। इस प्रकार उसकी स्थिति भँवर मे पड़ी लकडी जैसी अथवा आँधी मे उडते तिनके जैसी होती है। ऐसी कष्ट-परपरा का अनुभव करते-करते थोडा-सा अज्ञान दूर होता है, तो भी राग-द्वेष की तीव्रता के कारण सुख की सही दिशा मे प्रयाण नही होता। अज्ञान की कुछ मन्दता से बहुत बार ऐसा भान होता है कि सुख और दु:ख के बीज बाह्य जगत मे नही है, फिर भी रागद्वेष की तीव्रता के परिणाम-स्वरूप पूर्वपरिचित विषयो को ही सुख और दु ख के साधन मानकर उनमे हर्ष एवं विषाद का अनुभव हुआ करता है। यह स्थिति निश्चित लक्ष्यहीन होने से दिशा का सुनिश्चय किये बिना जहाज चलानेवाले माँझी की स्थिति जैसी होती है। यह स्थिति आध्यात्मिक अविकास काल की है।

(ब) अज्ञान एव रागद्वेष के चक्र का बल भी सर्वदा जैसा का तैसा नही रह सकता, क्योकि वह बल चाहे जितना प्रबल क्यो न हो, तो भी आखिरकार आत्मिक बल के सामने तो अगण्य है। लाखो मन घास और लकड़ी को जलाने के लिए उतनी ही आग की आवश्यकता नही होती। उसके लिए तो आग की एक चिनगारी भी काफी है। शुभ, मात्रा मे थोड़ा हो तो भी, लाखो गुना अशुभ की अपेक्षा अधिक बलवान होता है। जब आत्मा मे चेतनता का स्फुरण कुछ बढता है और रागद्वेष के साथ होनेवाले आत्मा के युद्ध मे जब रागद्वेष की शक्ति कम होती है, तब आत्मा का वीर्य, जो अब तक उल्टी दिशा मे कार्य करता था, सही दिशा की ओर मुडता है। उसी समय आत्मा अपने ध्येय का निश्चय करके उसे प्राप्त करने का दृढ निश्चय करती है और उसके लिए प्रवृत्ति करने लगती है। इस समय

आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ हो जाता है। इसके पश्चात् आत्मा अपनी ज्ञान एवं वीर्यशक्ति की सहायता लेकर अज्ञान और रागद्वेष के साथ कुश्ती करने के लिए अखाडे मे उतरती है। वह कभी हारती भी है, परन्तु अन्त में उस हार के परिणामस्वरूप बढी हुई ज्ञान एव वीर्यशक्ति को लेकर हरानेवाले अज्ञान और रागद्वेष को दबाती जाती है। जैसे-जैसे वह दबाती है वैसे-वैसे उसका उत्साह बढता है। उत्साहवृद्धि के साथ ही एक अपूर्व आनन्द की लहर बहने लगती है। इस आनन्द की लहर मे आनखशिख डूबी आत्मा अज्ञान एव रागद्वेष के चक्र को अधिकाधिक निर्बल करती हुई अपनी सहज स्थिति की ओर आगे बढ़ती जाती है। यह स्थिति आध्यात्मिक विकासक्रम की है।

(क) इस स्थिति की अन्तिम मर्यादा ही विकास की पूर्णता है। इस पूर्णता के प्राप्त होने पर ससार से पर स्थिति प्राप्त होती है। उसमे केवल स्वाभाविक आनन्द का ही साम्राज्य होता है। वह है मोक्षकाल।

चौदह गुणस्थान और उनका विवरण

जैन साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ, जो आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनमें भी आध्यात्मिक विकास के क्रम से सम्बन्ध रखनेवाले विचार व्यवस्थित रूप से उपलब्ध होते हैं। उनमे आत्मिक स्थिति के चौदह विभाग किये गये हैं, जो गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

गुणस्थान

गुण यानी आत्मा की चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, वीर्य आदि शक्तियां। स्थान यानी उन शक्तियो की शुद्धता की तरतमभाववाली अवस्थाएँ। आत्मा के सहज गुण विविध आवरणों से ससारदशा में आवृत है। आवरणों की विरलता या क्षय का परिमाण जितना विशेष उतनी गुणो की वृद्धि विशेष, और आवरणों की विरलता या क्षय का परिमाण जितना कम उतनी गुणो की वृद्धि कम। इस प्रकार आत्मिक गुणो की शुद्धि के प्रकर्ष या अपकर्षवाले असख्यात प्रकार सम्भव हैं, परन्तु सक्षेप मे उनको चौदह भागों में बाँटा गया है। वे गुणस्थान कहलाते हैं। गुणस्थान की कल्पना मुख्य

रूप से मोहनीय कर्म की विरलता एव क्षय के आधार पर की गई है । मोह नीय कर्म की मुख्य दो शक्तियाँ हैं । पहली शक्ति का कार्य आत्मा के सम्य-क्त्व गुण को आवृत करने का है, जिससे कि आत्मा मे तात्त्विक रुचि अथवा सत्यदर्शन नही होने पाता । दूसरी शक्ति का कार्य आत्मा के चारित्र गुण को आवृत करने का है, जिससे आत्मा तात्त्विक रुचि या सत्यदर्शन के होने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति करके स्वरूपलाभ प्राप्त नही कर सकती । सम्यक्त्व की प्रतिबन्धक मोहनीय की प्रथम शक्ति दर्शनमोहनीय और चारित्र की प्रतिबन्धक मोहनीय की दूसरी शक्ति चारित्रमोहनीय कहलाती है । इन दोनो मे दर्शनमोहनीय प्रबल है, क्योकि जब तक उसकी विरलता या क्षय न हो तब तक चारित्र मोहनीय का बल कम नही होता । दर्शनमोहनीय का बल घटने पर चारित्रमोहनीय क्रमश: निर्बल होकर अन्त मे सर्वथा क्षीण हो ही जाता है । समस्त कर्मावरणो मे प्रधानतम और बलवत्तम मोहनीय ही है । इसका कारण यह है कि जब तक मोहनीय की शक्ति तीव्र होती है तब तक अन्य आवरण भी तीव्र ही रहते है और उसकी शक्ति कम होते ही अन्य आवरणो का बल मन्द होता जाता है । इसी कारण गुणस्थानो की कल्पना मोहनीय कर्म के तरतमभाव के आधार पर की गई है ।

वे गुणस्थान ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन, (३) सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, (४) अविरतसम्यग्दृष्टि, (५) देशविरति (विरता-विरत), (६) प्रमत्तसयत, (७) अप्रमत्तसयत, (८) अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर), (९) अनिवृत्तिबादर, (१०) सूक्ष्मसम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली, (१४) अयोग-केवली ।

(१) जिस अवस्था मे दर्शनमोहनीय की प्रबलता के कारण सम्यक्त्व गुण आवृत होने से आत्मा की तत्त्वरुचि ही प्रकट नही हो सकती और जिससे उसकी दृष्टि मिथ्या (सत्य विरुद्ध) होती है वह अवस्था मिथ्यादृष्टि है ।

(२) ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होकर प्रथम गुणस्थान पर पहुँचने तक बीच मे बहुत ही थोडे समय की जो अवस्था प्राप्त होती है वह सास्वादन

१. देखो समवायांग, १४ वाँ समवाय ।

अवस्था है। इसका सास्वादन नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें पतनोन्मुख आत्मा मे तत्त्वरुचिका स्वल्प भी आस्वाद होता है, जैसे कि मिष्टान्न के भोजन के अनन्तर उल्टी होने पर एक विलक्षण स्वाद होता है। यह दूसरा गुणस्थान पतनोन्मुख आत्मा की ही स्थिति है।

(३) झूला झूलनेवाले मनुष्य की भाँति जिस अवस्था में आत्मा दोलायमान होती है, जिसके कारण वह सर्वथा सत्यदर्शन भी नही कर सकती अथवा सर्वथा मिथ्यादृष्टि की स्थिति मे भी नही रह सकती अर्थात् उसकी सशयालु-सी स्थिति हो जाती है उस अवस्था को सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का विष पहले जैसा तीव्र नहीं रहता, परन्तु होता है तो अवश्य।

(४) जिस अवस्था मे दर्शनमोहनीय का बल या तो बिल्कुल दब जाता है अथवा विरल हो जाता है, या फिर बिलकुल क्षीण हो जाता है, जिसके कारण आत्मा असन्दिग्ध रूप से सत्यदर्शन कर सकती है, वह अवस्था अविरतसम्यग्दृष्टि है। इसका अविरत नाम इसलिए है कि इसमे चारित्र-मोहनीय की सत्ता सविशेष होने से विरति (त्यागवृत्ति) का उदय नहीं हो पाता।

(५) जिस अवस्था मे सत्यदर्शन के अलावा अल्पाश मे भी त्याग-वृत्ति का उदय होता है वह देशविरति है। इसमे चारित्रमोहनीय की सत्ता अवश्य कम होती है और कमी के अनुपात मे त्यागवृत्ति होती है।

(६) जिस अवस्था मे त्यागवृत्ति पूर्ण रूप से उदित होती है, परन्तु बीच-बीच में प्रमाद (स्खलन) की सम्भावना रहती है वह प्रमत्तसयत अवस्था है।

(७) जिसमे प्रमाद की तनिक भी शक्यता नही होती वह अप्रमत्त-सयत अवस्था है।

(८) जिस अवस्था मे पहले कभी अनुभव न किया हो ऐसी आत्म-शुद्धिका अनुभव होता है और अपूर्व वीर्योल्लास—आत्मिक सामर्थ्य—प्रकट होता है वह अवस्था अपूर्वकरण है। इसका दूसरा नाम निवृत्ति-बादर भी है।

(९) जिस अवस्था मे चारित्रमोहनीय कर्म के शेष अशों का उप-

शमन या क्षीण करने का कार्य होता है वह अवस्था अनिवृत्तिबादर है।

(१०) जिस अवस्था में मोहनीय का अश लोभ के रूप मे ही उदयमान होता है और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में, वह अवस्था सूक्ष्मसम्पराय है।

(११) जिस अवस्था मे सूक्ष्म लोभ तक उपशान्त हो जाता है वह उपशान्तमोहनीय है। इस गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का सर्वथा क्षय सम्भव है, परन्तु चारित्रमोहनीय का वैसा क्षय नही होता, केवल उसकी सर्वांशतः उपशान्ति होती है। इसके कारण ही मोह का पुन उद्रेक होने पर इस गुणस्थान से अवश्य पतन होता है और प्रथम गुणस्थान तक जाना पडता है।

(१२) जिस अवस्था मे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाता है वह क्षीणमोहनीय है। इम स्थिति से पतन की सम्भावना ही नही रहती।

(१३) जिस अवस्था मे मोह के आत्यन्तिक अभाव के कारण वीत-रागदशा के प्राकटच के साथ सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है वह अवस्था सयोग-गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे शारीरिक, मानसिक और वाचिक व्यापार होते है। इससे इसे जीवन्मुक्ति कह सकते है।

(१४) जिस अवस्था मे शारीरिक, मानमिक और वाचिक प्रवृत्तियों का भी अभाव हो जाता है वह अयोगगुणस्थान है। यह गुणस्थान अन्तिम है। अतः शरीरपात होते ही इसकी समाप्ति होती है और उसके पश्चात् गुणस्थानातीत विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।[1]

प्रथम गुणस्थान अविकासकाल है। दूसरे और तीसरे इन दो गुण-स्थानो में विकास का तनिक स्फुरण होता है, परन्तु उसमे प्रबलता अविकास की ही होती है। चौथे से विकास क्रमश बढता-बढता वह चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण कला पर पहुँचता है और उसके बाद मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैन विचारसरणी का पृथक्करण इतना ही किया जा सकता है कि पहले के तीन गुणस्थान अविकासकाल के हैं और चौथे से चौदहवें तक के गुणस्थान विकास एव उसकी वृद्धिकाल के हैं; उसके पश्चात् मोक्षकाल है।

---

१. देखो दूसरे कर्मग्रन्थ की मेरी प्रस्तावना तथा व्याख्या।

श्री हरिभद्रसूरि द्वारा दूसरे प्रकार से वर्णित विकासक्रम

इस प्राचीन जैन विचार का वर्णन हरिभद्रसूरि ने दूसरी रीति से भी किया है। उनके वर्णन में दो प्रकार पाये जाते है।

आठ दृष्टि का पहला प्रकार

पहले प्रकार मे उन्होने अविकास और विकासक्रम दोनो का समावेश किया है।[१] उन्होने अविकासकाल को ओघदृष्टि और विकासक्रम को सद्दृष्टि सज्ञा दी है। सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ विभाग किये हैं। इन आठ विभागो में विकास का क्रम उत्तरोत्तर बढता जाता है।[२]

दृष्टि अर्थात् दर्शन अथवा बोध। इसके दो प्रकार हैं: पहले मे सत्-श्रद्धा (तात्त्विक रुचि का) अभाव होता है, जबकि दूसरे मे सत्-श्रद्धा होती है। पहला प्रकार ओघदृष्टि और दूसरा योगदृष्टि कहलाता है। पहले मे आत्मा की वृत्ति समारप्रवाह की ओर तथा दूसरे मे आध्यात्मिक विकास की ओर होती है। इसीलिए योगदृष्टि सद्दृष्टि कही जाती है।

जैसे समेघ रात्रि, अमेघ रात्रि, समेघ दिवस और अमेघ दिवस मे अनुक्रम से अतिमन्दतम, मन्दतम, मन्दतर और मन्द चाक्षुष ज्ञान होता है और उसमे भी ग्रहाविष्ट और ग्रहमुक्त पुरुष के भेद से, बाल और तरुण पुरुष के भेद से तथा विकृत नेत्रवाले और अविकृत नेत्रवाले पुरुष के भेद से चाक्षुष ज्ञान की अस्पष्टता या स्पष्टता तरतभाव से होती है, वैसी ही ओघदष्टि की दशा मे ससारप्रवाह की ओर रुझान होने पर भी आवरण के तरतमभाव से ज्ञान तारतम्यवाला होता है। यह ओघदृष्टि चाहे जैसी हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह असद्दृष्टि ही है। उसके पश्चात् जब से आध्यात्मिक विकास का आरम्भ होता है, फिर भले ही उसमे

---

१. देखो योगदृष्टिसमुच्चय।

२. इसकी विशेष जानकारी के लिए देखो 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' में व्याख्यान ५, पृ० ८० तथा विशेष रूप से पृ० ८५ से आगे।—सम्पादक

बाह्य ज्ञान कम हो, तबसे सद्दृष्टि शुरू होती है, क्योकि उस समय आत्मा की वृत्ति संसारोन्मुख न रहकर मोक्षोन्मुख हो जाती है।

इस सद्दृष्टि (योगदृष्टि) के, विकास के तारतम्य के अनुसार, आठ भेद हैं। इन आठ भेदो में उत्तरोत्तर सविशेष बोध अर्थात् जागृति होती है। पहली मित्रा नामक दृष्टि मे बोध और वीर्य का बल तृणाग्नि की प्रभा जैसा होता है। दूसरी तारा दृष्टि मे कण्डे की आग की प्रभा जैसा, तीसरी बला दृष्टि मे लकडी की आग की प्रभा जैसा, चौथी दीप्रा दृष्टि मे दीपक की प्रभा जैसा, पाचवी स्थिर दृष्टि मे रत्न की प्रभा जैसा, छठी कान्ता दृष्टि मे नक्षत्र की प्रभा जैसा, सातवी प्रभा दृष्टि मे सूर्य की प्रभा जैसा और आठवी परा दृष्टि मे चन्द्र की प्रभा जैसा होता है।

यद्यपि इनमे मे पहली चार दृष्टियो मे स्पष्ट रूप से ज्ञेय आत्मतत्त्व का सवेदन नही होता, केवल अन्तिम चार दृष्टियो मे ही वैसा सवेदन होता है, तथापि पहली चार दृष्टियो की सद्दृष्टि मे परिगणना करने का कारण यह है कि उस स्थिति मे आने के बाद आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का मार्ग निश्चित हो जाता है। योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अंगो के आधार पर सद्-दृष्टि के आठ विभाग समझने चाहिए। पहली दृष्टि मे यम की स्थिरता, दूसरी मे नियम की—इस प्रकार अनुक्रम से आठवी मे समाधि की स्थिरता मुख्य रूप से होती है।

पहली मित्रा आदि चार दृष्टियो मे आध्यात्मिक विकास होता तो है, पर उनमे कुछ अज्ञान और मोह का प्राबल्य रहता है, जब कि स्थिरा आदि बाद की चार दृष्टियो मे ज्ञान एव निर्मोहता का प्राबल्य बढ़ता जाता है।

योग के पाँच भागरूप दूसरा प्रकार

दूसरे प्रकार के[१] वर्णन मे उन आचार्य ने केवल आध्यात्मिक विकास के क्रम का ही योग के रूप मे वर्णन किया है, उससे पूर्व की स्थिति का वर्णन नही किया।

---

१. देखो योगबिन्दु।

योग यानी जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सके वैसा धर्मव्यापार । अनादि कालचक्र मे जब तक आत्मा की प्रवृत्ति स्वरूप-पराङमुख होने से लक्ष्यभ्रष्ट होती है, उस समय तक की उसकी सारी क्रिया शुभाशय से रहित होने से योगकोटि मे नही आती । जब से उसकी प्रवृत्ति बदलकर स्वरूपोन्मुख होती है तभी से उसकी क्रिया मे शुभाशय का तत्त्व दाखिल होता है । वैसा शुभाशयवाला व्यापार धर्मव्यापार कहलाता है, और फलत: मोक्षजनक होने से वह योग के नाम का पात्र बनता है । इस प्रकार आत्मा के अनादि ससारकाल के दो भाग हो जाते है एक अधार्मिक और दूसरा धार्मिक । अधार्मिक काल में धर्म की प्रवत्ति हो तो भी वह धर्म के लिए नही होती, केवल लोकपक्ति (लोकरजन) के लिए होती है । अतएव वैसी प्रवत्ति धर्मकोटि मे गिनने योग्य नही है । धर्म के लिए धर्म की प्रवृत्ति धार्मिक काल मे ही शुरू होती है । इसीलिए वैसी प्रवृत्ति योग कहलाती है ।[1]

योग के उन्होने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षय ये पाँच भाग किये हैं ।

(१) जब थोडे या अधिक त्याग के साथ शास्त्रीय तत्त्वचिन्तन होता है और मैत्री, करुणा आदि भावनाएँ विशेष सिद्ध हो जाती है तब वह स्थिति अध्यात्म कहलाती है ।

(२) जब मन समाधिपूर्वक सतत अभ्यास करने मे अध्यात्म द्वारा सविशेष पुष्ट होता है तब उसे भावना कहते हैं । भावना से अशुभ अभ्यास दूर होता है, शुभ अभ्यास की अनुकूलता बढ़ती है और सुन्दर चित्त की वृद्धि होती है ।

(३) जब चित्त केवल शुभ विषय का ही अवलम्बन लेता है और उससे स्थिर दीपक के जैसा प्रकाशमान हो वह सूक्ष्म बोधवाला बन जाता है तब उसे ध्यान कहते हैं । ध्यान से चित्त प्रत्येक कार्य मे आत्माधीन हो जाता है, भाव निश्चल होता है और बन्धनो का विच्छेद होता है ।

(४) अज्ञान के कारण इष्ट-अनिष्ट रूप से कल्पित वस्तुओं में से

---

१. देखो योगबिन्दु ।

जब विवेक के द्वारा इष्ट-अनिष्टत्व की भावना नष्ट हो जाती है तब वैसी स्थिति समता कहलाती है।

(५) वासना के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाली वृत्तियों का निर्मूल निरोध वृत्तिसक्षय है।

ये दोनों प्रकार के वर्णन प्राचीन जैन गुणस्थानक के विचारों का नवीन पद्धति से किया गया वर्णनमात्र है।

(द० अ० चिं० भा० २, पृ० १०११-१०१४, १०१७-१०२१)

: ७ :

अहिंसा

अहिंसा का सिद्धांत आर्य परपरा में बहुत ही प्राचीन है और उसका आदर सभी आर्यशाखाओ मे एक-सा रहा है। फिर भी प्रजाजीवन के विस्तार के साथ-साथ तथा विभिन्न धार्मिक परपराओ के विकास के साथ-साथ, उस सिद्धात के विचार तथा व्यवहार मे भी अनेकमुखी विकास हुआ देखा जाता है। अहिंसा-विषयक विचार के मुख्य दो स्रोत प्राचीन काल से ही आर्य परपरा मे बहने लगे ऐसा जान पडता है। एक स्रोत तो मुख्यतया श्रमण जीवन के आश्रय मे बहने लगा, जब कि दूसरा स्रोत ब्राह्मण परपरा—चतुर्विध आश्रम—के जीवन-विचार के सहारे प्रवाहित हुआ। अहिंसा के तात्त्विक विचार में उक्त दोनो स्रोतो मे कोई मतभेद देखा नही जाता। पर उसके व्यावहारिक पहलू या जीवनगत उपयोग के बारे में उक्त दो स्रोतो मे ही नही, बल्कि प्रत्येक श्रमण एवं ब्राह्मण स्रोत की छोटी-बडी अवान्तर शाखाओं में भी, नाना प्रकार के मतभेद तथा आपसी विरोध देखे जाते हैं। उसका प्रधान कारण जीवनदृष्टि का भेद है। श्रमण परपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया वैयक्तिक और आध्यात्मिक रही है, जब कि ब्राह्मण परपरा की जीवनदृष्टि प्रधानतया सामाजिक या लोकसग्राहक रही है। पहली मे लोकसंग्रह तभी तक इष्ट है जब तक वह आध्यात्मिकता का विरोधी न हो। जहाँ उसका आध्यात्मिकता से विरोध दिखाई दिया वहाँ पहली दृष्टि लोकसग्रह की ओर उदासीन रहेगी या उसका विरोध करेगी। जब कि दूसरी दृष्टि में लोकसग्रह इतने विशाल पैमाने पर किया गया है कि जिससे उसमे आध्यात्मिकता और भौतिकता परस्पर टकराने नही पाती।

आगमों में अहिंसा का निरूपण

श्रमण परंपरा की अहिंसा संबंधी विचारधारा का एक प्रवाह अपने

विशिष्ट रूप से बहता था, जो कालक्रम से आगे जाकर दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर के जीवन मे उदात्त रूप मे व्यक्त हुआ। हम उस प्रकटीकरण को 'आचाराङ्ग', 'सूत्रकृताङ्ग' आदि प्राचीन जैन आगमो मे स्पष्ट देखते हैं। अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा तो आत्मौपम्य की दृष्टि मे से ही हुई थी, पर उक्त आगमो मे उसका निरूपण और विश्लेषण इस प्रकार हुआ है—

(१) दु ख और भय का कारण होने से हिंसामात्र वर्ज्य है, यह अहिंसा सिद्धान्त की उपपत्ति।

(२) हिंसा का अर्थ यद्यपि प्राणनाश करना या दु ख देना है, तथापि हिंसाजन्य दोष का आधार तो मात्र प्रमाद अर्थात् रागद्वेषादि ही है। अगर प्रमाद या आसक्ति न हो तो केवल प्राणनाश हिंसा कोटि मे आ नहीं सकता, यह अहिंसा का विश्लेषण।

(३) वध्य जीवो का कद, उनकी सख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि संपत्ति के तारतम्य के ऊपर हिसा के दोष का तारतम्य अवलबित नही है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता के ऊपर अवलबित है, ऐसा कोटिक्रम।

उपर्युक्त तीनो बाते भगवान् महावीर के विचार तथा आचार में से फलित होकर आगमों मे ग्रथित हुई हैं। कोई एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह कैसा ही आध्यात्मिक क्यो न हो, पर वह सयमलक्षी जीवनधारण का भी प्रश्न सोचता है तब उसमे से उपर्युक्त विश्लेषण तथा कोटिक्रम अपने आप ही फलित हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो कहना पडता है कि आगे के जैन वाङमय मे अहिसा के सबध मे जो विशेष ऊहापोह हुआ है उसका मूल आधार तो प्राचीन आगमो मे प्रथम से ही रहा।

समूचे जैन वाङमय में पाए जानेवाले अहिंसा के ऊहापोह पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हमे स्पष्ट दिखाई देता है कि जैन वाङमय का अहिंसा सबंधी ऊहापोह मुख्यतया चार बलो पर अवलबित है। पहला तो यह कि वह प्रधानतया साधु जीवन का ही अतएव नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा का ही विचार करता है। दूसरा यह कि वह ब्राह्मण परपरा मे विहित मानी जानेवाली और प्रतिष्ठित समझी जानेवाली यज्ञीय आदि अनेकविध हिंसाओं का विरोध करता है। तीसरा यह कि वह अन्य श्रमण परंपराओं के त्यागी

जीवन की अपेक्षा भी जैन श्रमण का त्यागी जीवन विशेष नियंत्रित रखने का आग्रह रखता है। चौथा यह कि वह जैन परंपरा के ही अवान्तर फिरकों में उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोध के प्रश्नो के निराकरण का भी प्रयत्न करता है।

नवकोटिक-पूर्ण अहिंसा के पालन का आग्रह भी रखना और संयम या सद्‌गुणविकास की दृष्टि से जीवननिर्वाह का समर्थन भी करना—इस विरोध मे से हिंसा के द्रव्य, भाव आदि भेदो का ऊहापोह फलित हुआ और अन्त में एक मात्र निश्चय सिद्धान्त यही स्थापित हुआ कि आखिर को प्रमाद ही हिंसा है। अप्रमत्त जीवनव्यवहार देखने मे हिंसात्मक हो तब भी वह वस्तुतः अहिंसक ही है। जहाँ तक इस आखरी नतीजे का सबध है वहाँ तक श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि किसी भी जैन फिरके का इसमे थोडा भी मतभेद नही है। सब फिरको की विचारसरणी, परिभाषा और दलीलें एक-सी हैं।[1]

वैदिक हिंसा का विरोध

वैदिक परपरा मे यज्ञ, अतिथि श्राद्ध आदि अनेक निमित्तो मे होने वाली जो हिंसा धार्मिक मानकर प्रतिष्ठित करार दी जाती थी उसका विरोध साख्य, बौद्ध और जैन परपरा ने एक-सा किया है, फिर भी आगे जाकर इस विरोध मे मुख्य भाग बौद्ध और जैन का ही रहा है। जैन वाङ्मयगत अहिंसा के ऊहापोह मे उक्त विरोध की गहरी छाप और प्रतिक्रिया भी है। पद-पद पर जैन साहित्य मे वैदिक हिंसा का खण्डन देखा जाता है। साथ ही जब वैदिक लोग जैनो के प्रति यह आशका करते है कि अगर धार्मिक हिंसा भी अकर्तव्य है, तो तुम जैन लोग अपनी समाज रचना में मन्दिरनिर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यो का समावेश अहिंसक रूप से कैसे कर सकोगे इत्यादि। इस प्रश्न का खुलासा भी जैन वाङ्मय के अहिंसा सबधी ऊहापोह मे सविस्तर पाया जाता है।

जैन और बौद्धो के बीच विरोध का कारण

प्रमाद—मानसिक दोष ही मुख्यतया हिंसा है और उस दोष मे से

---

१. देखो 'ज्ञानबिन्दु' में टिप्पण पृ० ७९ से।

जनित प्राण-नाश ही हिंसा है—यह विचार जैन और बौद्ध परंपरा मे एक-सा मान्य है, फिर भी हम देखते हैं कि पुराकाल से जैन और बौद्ध परपरा के बीच अहिंसा के सबध मे पारस्परिक खण्डन-मण्डन बहुत हुआ है । 'सूत्रकृताङ्ग' जैसे प्राचीन आगम मे भी अहिंसा सबधी बौद्ध मन्तव्य का खडन है । इसी तरह 'मज्झिमनिकाय' जैसे पिटक ग्रथो मे भी जैन अहिंसा का सपरिहास खण्डन पाया जाता है । उत्तरवर्ती निर्युक्ति आदि जैन ग्रथों मे तथा 'अभिधर्मकोष' आदि बौद्ध ग्रथो मे भी वही पुराना खण्डन-मण्डन नए रूप में देखा जाता है । जब जैन-बौद्ध दोनो परपराएँ वैदिक हिंसा की एक-सी विरोधिनी है और जब दोनो की अहिंसा सबधी व्याख्या मे कोई तात्त्विक मतभेद नही, तब पहले मे ही दोनो मे पारस्परिक खण्डन-मण्डन क्यो शुरू हुआ और चल पडा—यह एक प्रश्न है । इसका जवाब जब हम दोनो परपराओ के साहित्य को ध्यान से पढते हैं, तब मिल जाता है । खण्डन-मण्डन के अनेक कारणो मे से प्रधान कारण तो यही है कि जैन परपरा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को अमल मे लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियत्रित किया वह बौद्ध परपरा ने नही किया। जीवन-सबधी बाह्य प्रवृत्तियो के अति नियत्रण और मध्यममार्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद मे से ही जैन और बौद्ध परपराएँ आपस मे खण्डन-मण्डन मे प्रवृत्त हुई । इस खण्डन-मण्डन का भी जैन वाङमय के अहिंसा सबधी ऊहापोह मे खासा हिस्सा है, जिसका कुछ नमूना ज्ञानबिन्दु के टिप्पणो मे दिए हुए जैन और बौद्ध अवतरणो से जाना जा सकता है । जब हम दोनो परपराओ के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब नि सकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक दूसरे को गलत रूप से ही समझा है । इसका एक उदाहरण 'मज्झिमनिकाय' का उपालिसुत्त और दूसरा नमूना सूत्रकृताङ्ग (१. १. २ २४-३२; २. ६. २६-२८) का है ।

अहिंसा की कोटिकी हिंसा

जैसे-जैसे जैन साधुमघ का विस्तार होता गया और जुदे-जुदे देश तथा काल मे नई-नई परिस्थिति के कारण नए-नए प्रश्न उत्पन्न होते गए, वैसे-वैसे जैन तत्त्वचिन्तको ने अहिंसा की व्याख्या और विश्लेषण मे से एक स्पष्ट

नया विचार प्रकट किया। वह यह कि अगर अप्रमत्त भाव से कोई जीव-विराधना–हिंसा हो जाए या करनी पड़े तो वह मात्र अहिंसाकोटि की अतएव निर्दोष ही नही है, बल्कि वह गुण (निर्जरा) वर्धक भी है। इस विचार के अनुसार, साधु पूर्ण अहिंसा का स्वीकार कर लेने के बाद भी अगर संयत जीवन की पुष्टि के निमित्त, विविध प्रकार की हिंसारूप समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करता है तो वह संयमविकास मे एक कदम आगे बढ़ता है। यही जैन परिभाषा के अनुसार निश्चय अहिंसा है। जो त्यागी बिल्कुल वस्त्र आदि रखने के विरोधी थे वे मर्यादित रूप मे वस्त्र आदि उपकरण (साधन) रखनेवाले साधुओ को जब हिंसा के नाम पर कोसने लगे, तब वस्त्रादि के समर्थक त्यागियो ने उसी निश्चय सिद्धान्त का आश्रय लेकर जवाब दिया कि केवल सयम के धारण और निर्वाह के वास्ते ही, शरीर की तरह मर्यादित उपकरण आदि का रखना अहिंसा का बाधक नही। जैन साधुसघ की इस प्रकार की पारस्परिक आचारभेदमूलक चर्चा के द्वारा भी अहिंसा के ऊहापोह मे बहुत-कुछ विकास देखा जाता है, जो ओघनिर्युक्ति आदि मे स्पष्ट है।

कभी-कभी अहिंसा की चर्चा शुष्क तर्क की-सी हुई जान पड़ती है। एक व्यक्ति प्रश्न करता है कि अगर वस्त्र रखना ही है तो वह बिना फाड़े अखण्ड ही क्यो न रखा जाए, क्योंकि उसके फाडने से जो सूक्ष्म अणु उड़ेंगे वे जीवघातक जरूर होगे। इस प्रश्न का जवाब भी उसी ढग से दिया गया है। जवाब देनेवाला कहता है कि अगर वस्त्र फाडने से फैलनेवाले सूक्ष्म अणुओ के द्वारा जीवघात होता है, तो तुम जो हमे वस्त्र फाड़ने से रोकने के लिए कुछ कहते हो उसमे भी तो जीवघात होता है न ?—इत्यादि। अस्तु। जो कुछ हो, पर हम जिनभद्रगणि की स्पष्ट वाणी मे जैनपरपरासमत अहिंसा का पूर्ण स्वरूप पाते है। वे कहते है कि स्थान सजीव हो या निर्जीव, उसमे कोई जीव घातक हो जाता हो या कोई अघातक ही देखा जाता हो, पर इतने मात्र से हिंसा या अहिंसा का निर्णय नहीं हो सकता। हिंसा सचमुच प्रमाद—अयतना—असयम मे ही है, फिर चाहे किसी जीव का घात न भी होता हो। इसी तरह अगर अप्रमाद या यतना—सयम सुरक्षित है, तो जीवघात दिखाई देने पर भी वस्तुतः अहिंसा ही है।

जैन ऊहापोह की क्रमिक भूमिकाएं

उपर्युक्त विवेचन से अहिंसा सबंधी जैन ऊहापोह की नीचे लिखी क्रमिक भूमिकाएँ फलित होती हैं :

(१) प्राण का नाश हिंसारूप होने से उसको रोकना ही अहिंसा है।

(२) जीवन धारण की समस्या मे से फलित हुआ कि जीवन–खासकर संयमी जीवन के लिए अनिवार्य समझी जानेवाली प्रवृत्तियाँ करते रहने पर अगर जीवघात हो भी जाए तो भी यदि प्रमाद नही है तो वह जीवघात हिंसारूप न होकर अहिंसा ही है।

(३) अगर पूर्णरूपेण अहिंसक रहना हो तो वस्तुतः और सर्वप्रथम चित्तगत क्लेश (प्रमाद) का ही त्याग करना चाहिए। यह हुआ तो अहिंसा सिद्ध हुई। अहिंसा का बाह्य प्रवृत्तियो के साथ कोई नियत संबध नहीं है। उसका नियत सबध मानसिक प्रवृत्तियो के साथ है।

(४) वैयक्तिक या सामूहिक जीवन मे ऐसे भी अपवाद-स्थान आते हैं जब कि हिंसा मात्र अहिंसा ही नही रहती, प्रत्युत वह गुणवर्धक भी बन जाती है। ऐसे आपवादिक स्थानो मे अगर कही जानेवाली हिंसा से डरकर उसे आचरण मे न लाया जाए तो उलटा दोष लगता है।

जैन एवं मीमांसक आदि के बीच साम्य

जैन अहिंसा के उत्सर्ग-अपवाद की यह चर्चा ठीक अक्षरशः मीमासा और स्मृति के अहिंसा संबंधी उत्सर्ग अपवाद की विचारसरणी से मिलती है। अन्तर है तो यही कि जहाँ जैन विचारसरणी साधु या पूर्णत्यागी के जीवन को लक्ष्य में रखकर प्रतिष्ठित हुई है वहाँ मीमांसक और स्मार्तों की विचारसरणी गृहस्थ, त्यागी सभी के जीवन को केन्द्रस्थान मे रखकर प्रचलित हुई है। दोनों का साम्य इस प्रकार है—

१ जैन	२ वैदिक
१. सब्वे पाणा न हंतव्वा	१. मा हिंस्यात् सर्वभूतानि

१ जैन	२ वैदिक
२. साधुजीवन की अशक्यता का प्रश्न ।	२. चारों आश्रम के सभी प्रकार के अधिकारियो के जीवन की तथा तत्संबंधी कर्तव्यो की अशक्यता का प्रश्न ।
३. शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा का अभाव, अर्थात् निषिद्धाचरण हो हिंसा ।	३. शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव, अर्थात् निषिद्धाचार ही हिंसा है ।

यहाँ यह ध्यान रहे कि जैन तत्त्वज्ञ 'शास्त्र' शब्द से जैन शास्त्र को—खासकर साधु-जीवन के विधि-निषेध प्रतिपादक शास्त्र को ही लेता है, जब कि वैदिक तत्त्वचिन्तक शास्त्र शब्द से उन सभी शास्त्रों को लेता है, जिन मे वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक और राजकीय आदि सभी कर्तव्यो का विधान है ।

४. अन्ततोगत्वा अहिंसा का मर्म जिनाज्ञा के—जैन शास्त्र के यथावत् अनुसरण मे ही है ।	४. अन्ततोगत्वा अहिंसा का तात्पर्य वेद तथा स्मृतियो की आज्ञा के पालन मे ही है ।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ४१२-४१७)

अहिंसा की भावना का विकास

नेमिनाथ की करुणा

भगवान पार्श्वनाथ के पहले निर्ग्रन्थ-परम्परा मे यदुकुमार नेमिनाथ हो गए है। उनकी अर्ध-ऐतिहासिक जीवनकथाओं मे एक घटना का जो उल्लेख मिलता है, उसको निर्ग्रन्थ-परम्परा की अहिंसक भावना का एक सीमाचिह्न कहा जा सकता है । लग्न-विवाहादि सामाजिक उत्सव-समारभों मे जीमने-जिमाने और आमोद-प्रमोद करने का रिवाज तो आज भी चालू है, पर उस समय ऐसे समारभों मे नानाविध पशुओं का वध करके उनके माँस से जीमन को आकर्षित बनाने की प्रथा आम तौर से रही । खास कर क्षत्रियादि जातियों में तो यह प्रथा और भी रूढ़ थी । इस प्रथा के अनुसार लग्न के निमित्त किए जाने वाले उत्सव मे वध करने के लिए एकत्र किये गए हरिन

आदि विविध पशुओं का आर्त्तनाद सुनकर नेमिकुमार ने ठीक लग्न के मौके पर ही करुणार्द्र होकर अपने ऐसे लग्न का सकल्प ही छोड दिया, जिसमे पशुओं का वध करके माँस का खाना-खिलाना प्रतिष्ठित माना जाता रहा। नेमिकुमार के इस करुणामूलक ब्रह्मचर्यवास का उस समय समाज पर ऐसा असर पड़ा और क्रमश वह असर बढता गया कि धीरे-धीरे अनेक जातियों ने सामाजिक समारभो मे माँस खाने-खिलाने की प्रथा को ही तिलाञ्जलि दे दी। सभवत. यही ऐसी पहली घटना है जो सामाजिक व्यवहारो मे अहिंसा की नीव पडने की सूचक है। नेमिकुमार यादव-शिरोमणि देवकी-नन्दन कृष्ण के अनुज थे। जान पडता है कि इस कारण से द्वारका और मथुरा के यादवो पर अच्छा असर पडा।

पार्श्वनाथ का हिंसाविरोध

इतिहास-काल मे भगवान पार्श्वनाथ का स्थान है। उनकी जीवनी कह रही है कि उन्होने अहिंसा की भावना को विकसित करने के लिए एक दूसरा ही कदम उठाया। पञ्चाग्नि जैसी तामस तपस्याओ मे सूक्ष्म-स्थूल प्राणियो का विचार बिना किए ही आग जलाने की प्रथा थी, जिसमे कभी-कभी ईधन के साथ अन्य प्राणी भी जल जाते थे। काशीराज अश्वपति के पुत्र पार्श्वनाथ ने ऐसी हिसाजनक तपस्या का घोर विरोध किया और धर्म-क्षेत्र मे अविवेक से होने वाली हिसा के त्याग की ओर लोकमत तैयार किया।

भगवान महावीर के द्वारा की गई अहिंसा की प्रतिष्ठा

पार्श्वनाथ के द्वारा पुष्ट की गई अहिंसा की भावना निर्ग्रन्थनाथ ज्ञातपुत्र महावीर को विरासत मे मिली। उन्होने यज्ञ-यागादि जैसे धर्म के जुदे-जुदे क्षेत्रो मे होनेवाली हिसा का तथागत बुद्ध की तरह आत्यन्तिक विरोध किया और धर्म के प्रदेश मे अहिसा की इतनी अधिक प्रतिष्ठा की कि इसके बाद तो अहिसा ही भारतीय धर्मों का प्राण बन गई। भगवान महावीर की उग्र अहिंसापरायण जीवन-यात्रा तथा एकाग्र तपस्या ने तत्कालीन अनेक प्रभावशाली ब्राह्मण व क्षत्रियो को अहिंसा-भावना की

ओर खींचा। फलतः जनता मे सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों में अहिंसा की भावना ने जड़ जमाई, जिसके ऊपर आगे की निर्ग्रन्थ-परंपरा की अगली पीढ़ियो की कारगुजारी का महल खड़ा हुआ है।

अहिंसा के अन्य प्रचारक

अशोक के पौत्र संप्रति ने अपने पितामह के अहिंसक संस्कार की विरासत को आर्य सुहस्ति की छत्रछाया में और भी समृद्ध किया। संप्रति ने केवल अपने अधीन राज्य-प्रदेशो मे ही नही, बल्कि अपने राज्य की सीमा के बाहर भी—जहाँ अहिंसामूलक जीवन-व्यवहार का नाम भी न था—अहिंसा-भावना का फैलाव किया। अहिंसा-भावना के उस स्रोत की बाढ़ मे अनेक का हाथ अवश्य है, पर निर्ग्रन्थ अनगारो का तो इसके सिवाय और कोई ध्येय ही नही रहा है। वे भारत मे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण जहाँ-जहाँ गए वहा उन्होने अहिंसा की भावना का ही विस्तार किया और हिंसा-मूलक अनेक व्यसनो के त्याग की जनता को शिक्षा देने मे ही निर्ग्रन्थ-धर्म की कृतकृत्यता का अनुभव किया। जैसे शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर मठ स्थापित करके ब्रह्माद्वैत का विजय-स्तम्भ रोपा है, वैसे ही महावीर के अनुयायी अनगार निर्ग्रन्थो ने भारत जैसे विशाल देश के चारो कोनो मे अहिंसाद्वैत की भावना के विजय-स्तम्भ रोप दिए है—ऐसा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। लोकमान्य तिलक ने इस बात को यो कहा था कि गुजरात की अहिंसा-भावना जैनो की ही देन है, पर इतिहास हमे कहता है कि वैष्णवादि अनेक वैदिक परम्पराओं की अहिंसामूलक धर्मवृत्ति मे निर्ग्रन्थ संप्रदाय का थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य काम कर रहा है। उन वैदिक सम्प्रदायो के प्रत्येक जीवनव्यवहार की छानबीन करने से कोई भी विचारक यह सरलता से जान सकता है कि इसमे निर्ग्रन्थो की अहिंसा-भावना का पुट अवश्य है। आज भारत मे हिंसामूलक यज्ञ-यागादि धर्म-विधि का समर्थक भी यह साहस नही कर सकता है कि वह यजमानों को पशुवध के लिए प्रेरित करे।

आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरपति परममाहेश्वर सिद्धराज तक को बहुत

अंशों में अहिंसा की भावना से प्रभावित किया। इसका फल अनेक दिशाओं में अच्छा आया। अनेक देव-देवियों के सामने खास-खास पर्वों पर होनेवाली हिंसा रुक गई और ऐसी हिंसा को रोकने के व्यापक आन्दोलन की एक नींव पड़ गई। सिद्धराज का उत्तराधिकारी गुर्जरपति कुमारपाल तो परमार्हत ही था। वह सच्चे अर्थ में परमार्हत इसलिए माना गया कि उसने जैसी और जितनी अहिंसा की भावना पुष्ट की और जैसा उसका विस्तार किया वह इतिहास में बेजोड़ है। कुमारपाल की 'अमारि-घोषणा' इतनी लोकप्रिय बनी कि आगे के अनेक निर्ग्रन्थ और उनके गृहस्थ-शिष्य 'अमारि-घोषणा' को अपने जीवन का ध्येय बनाकर ही काम करने लगे। आचार्य हेमचन्द्र के पहले कई निर्ग्रन्थों ने मांसाशी जातियों को अहिंसा की दीक्षा दी थी और निर्ग्रन्थ-सघ में ओसवाल-पोरवाल आदि वर्ग स्थापित किए थे। शक आदि विदेशी जातियाँ भी अहिंसा के चेप से बच न सकी। हीरविजयसूरि ने अकबर जैसे भारत-सम्राट् से भिक्षा में इतना ही माँगा कि वह हमेशा के लिए नहीं तो कुछ खास-खास तिथियों पर अमारि-घोषणा जारी करे। अकबर के उस पथ पर जहाँगीर आदि उनके वंशज भी चले। जो जन्म से ही मांसाशी थे उन मुगल सम्राटों के द्वारा अहिंसा का इतना विस्तार कराना यह आज भी सरल नहीं है।

आज भी हम देखते हैं कि जैन-समाज ही ऐसा है, जो जहाँ तक संभव हो विविध क्षेत्रों में होनेवाली पशु-पक्षी आदि की हिंसा को रोकने का सतत प्रयत्न करता है। इस विशाल देश में जुदे-जुदे संस्कारवाली अनेक जातियाँ पडोस-पडोस में बसती है। अनेक जन्म से ही मांसाशी भी हैं। फिर भी जहाँ देखो वहाँ अहिंसा के प्रति लोकरुचि तो है ही। मध्यकाल में ऐसे अनेक सन्त और फकीर हुए जिन्होंने एक मात्र अहिंसा और दया का ही उपदेश दिया है, जो भारत की आत्मा में अहिंसा की गहरी जड़ की साक्षी है।

महात्मा गाँधीजी ने भारत में नव-जीवन का प्राण प्रस्पंदित करने का संकल्प किया, तो वह केवल अहिंसा की भूमिका के ऊपर ही। यदि उनको अहिंसा की भावना का ऐसा तैयार क्षेत्र न मिलता, तो वे शायद ही इतने सफल होते।

(द० औ० चिं० खं० २, पृ० ७५-७८)

अहिंसा और अमारि

मानवप्रकृति में हिंसा और अहिंसा के तत्त्व रहे हुए हैं। भारत में उसके मूल निवासियों की और बाद मे उनके विजेता के रूप में प्रसिद्ध आर्यों की समृद्धि के समय अनेक प्रकार के बलिदान एवं यज्ञ-याग की प्रथा थी और उसमें केवल पशुपक्षी ही नही, बल्कि मनुष्य तक की बलि दी जाती थी। धार्मिक समझा जानेवाला हिंसा का यह प्रकार इतनी हद तक फैला हुआ था कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दूसरी ओर हिंसा का विरोध शुरू हुआ था। अहिंसा की भावनावाले ऐसे पन्थ तो भगवान महावीर और बुद्ध के पहले भी स्थापित हो चुके थे। ऐसा होने पर भी अहिंसातत्त्व के अनन्य पोषक एव अहिसा की आज की चालू गगोत्री के रूप मे जो दो महान् ऐतिहासिक पुरुष हमारे समक्ष है वे भगवान महावीर और बुद्ध ही हैं। उनके समय में और उनके पीछे भारत मे अहिंसा को जो पोषण मिला है, उसका जितने प्रकार से और जितनी दिशा मे प्रचार हुआ है तथा अहिंसा तत्त्व के बारे में जो शास्त्रीय और सूक्ष्म विचार हुआ है उसकी तुलना भारत के बाहर किसी भी देश के इतिहास मे प्राप्त नही हो सकती। दुनिया के दूसरे देशों और दूसरी जातियो पर असाधारण प्रभाव डालनेवाला, उनको जीतनेवाला और सर्वदा के लिए उनका मन हरनेवाला कोई तत्त्व भारत मे उत्पन्न हुआ हो, तो वह हजारो वर्षों से आज तक लगातार कमोबेश रूप मे प्रचलित और विकसित अहिंसातत्त्व ही है।

अशोक, सम्प्रति और खारवेल

अहिंसा के प्रचारक जैन एव बौद्ध सघो की व्यवस्थित स्थापना के पश्चात् उनका प्रचारकार्य चारो ओर ज़ोरो से चलने लगा। इसके प्रमाण आज भी विद्यमान हैं। महान् सम्राट् अशोक के धर्मानुशासनों में जो आदेश है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसने उत्सवो और समारम्भों मे हिंसा न करने की आज्ञा दी थी, अथवा एक प्रकार से लोगों के समक्ष वैसा न करने की अपनी इच्छा उसने प्रदर्शित की थी। स्वय हिंसामुक्त हो, फ़कीरी अपनाकर राजदण्ड धारण करनेवाले अशोक की धर्माज्ञाओं का प्रभाव

प्रत्येक पन्थ के लोगो पर कितना पड़ा होगा इसकी कल्पना करना मुश्किल नही है। राजकीय आदेशो द्वारा अहिंसा के प्रचार का यह मार्ग अशोक के आगे रुक गया हो ऐसी बात नही है। उसके पौत्र और प्रसिद्ध जैन राजा सम्प्रति ने उस मार्ग का अनुसरण किया था और अपने पितामह की अहिंसा की भावना को उसने अपने ढग से और अपनी रीति से खूब पोसा था। राजा, राजकुटुम्ब और बडे-बडे अधिकारी अहिंसा के प्रचार की ओर उन्मुख हो इस पर से दो बातें सहज भाव से ज्ञात होती है। एक तो यह कि अहिंसा-प्रचारक सघो ने किस हद तक प्रगति की थी कि जिसका असर महान् सम्राटो पर भी पडा था, और दूसरी बात यह कि लोगो को अहिंसा-तत्त्व कितना रुचिकर हुआ था अथवा उनमे दाखिल हुआ था कि जिसके कारण वे अहिंसा की घोषणा करनेवाले ऐसे राजाओ का बहुमान करने लगे थे। कलिंगराज आर्हत सम्राट् खारवेल ने भी इस दिशा मे खूब प्रयत्न किये होगे ऐसा उसके कार्यो पर से लगता है।

बीच-बीच मे बलिदानवाले यज्ञ के युग मानवप्रकृति मे से उदित होते गये ऐसा इतिहास स्पष्ट कहता है, फिर भी सामान्य रूप से देखने पर भारत मे तथा भारत के बाहर उपर्युक्त दोनो अहिंसाप्रचारक सघो के कार्य ने अधिक सफलता प्राप्त की है। दक्षिण एव उत्तर भारत के मध्यकालीन जैन और बौद्ध राजाओ तथा राजकुटुम्बो एव अधिकारियो का सर्वप्रथम कार्य अहिंसा के प्रचार का ही रहा होगा ऐसा मानने के अनेक कारण है।

कुमारपाल और अकबर

पश्चिम भारत के प्रभावशाली राज्यकर्ता परम आर्हत कुमारपाल की अहिंसा तो इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि बहुत-से लोगो को वह आज अतिशयतापूर्ण लगती है। मुगलसम्राट् अकबर का मन जीतनेवाले त्यागी, जैन भिक्षु हीरविजयसूरि और उनके अनुगामी शिष्यो द्वारा बादशाहो के पास से अहिंसा के बारे मे प्राप्त किये गये फरमान सदा के लिए इतिहास मे अमर रहेगे। इनके अतिरिक्त राजाओ, जमीदारो, उच्च अधिकारियो तथा गाँव के अगुओ की ओर से भी हिंसा न करने के जो वचन दिये गये थे वे यदि हम प्राप्त कर सके तो इस देश मे अहिंसाप्रचारक सघ ने

अहिंसा का वातावरण जमाने में कितना पुरुषार्थ किया था इसकी कुछ कल्पना आ सकती है।

अहिंसा के प्रचार का एक प्रमाण . पिंजरापोल

अहिंसा के प्रचार के एक सबल प्रमाण के रूप मे हमारे यहाँ पिंजरापोल की सस्था चली आ रही है। यह परम्परा कब से और किस के द्वारा अस्तित्व मे आई यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी गुजरात मे उसके प्रचार एव उसकी प्रतिष्ठा को देखते हुए ऐसा मानने का मन हो आता है कि पिंजरापोल सस्था को व्यापक रूप देने मे सम्भवत कुमारपाल और उनके धर्मगुरु आचार्य हेमचन्द्र का मुख्य हाथ रहा हो। समग्र कच्छ, सौराष्ट्र एव गुजरात तथा राजस्थान के अमुक भाग का कोई ऐसा प्रसिद्ध नगर या अच्छी बस्तीवाला कस्बा शायद ही मिले जहाँ पिंजरापोल न हो। अनेक स्थानो पर तो छोटे-छोटे गावो तक मे भी प्राथमिक शालाओ (प्राइमरी स्कूल) की भाँति पिंजरापोल की शाखाएँ है। ये सब पिंजरापोल मुख्यत पशुओ को और अशत पक्षियो को बचाने का और उनकी देखभाल रखने का कार्य करती हैं। हमारे पास इस समय निश्चित आकडे नही है, परन्तु मेरा स्थूल अनुमान है कि प्रतिवर्ष इन पिंजरापोलो के पीछे जैन पचास लाख से कम खर्च नही करते होगे और इन पिंजरापोलो के आश्रय मे अधिक नही तो लाख के करीब छोटे-बडे जीव पोषण पाते होगे। गुजरात के बाहर के भागो मे जहाँ-जहाँ गोशालाएँ चलती है वहाँ सर्वत्र आम तौर पर सिर्फ गायो की ही रक्षा की जाती है। गोशालाएँ भी देश मे बहुत है और उनमे हजारो गाये रक्षण पाती है। पिंजरापोल की सस्था हो या गोशाला की सस्था हो, परन्तु यह सब पशुरक्षण की प्रवृत्ति अहिंसाप्रचारक सघ के पुरुषार्थ पर ही अवलम्बित है ऐसा कोई भी विचारक कहे बिना शायद ही रहे। इसके अलावा चीटियो को आटा डालने की प्रथा तथा जलचरो को आटे की गोलियाँ खिलाने की प्रथा, शिकार एव देवी के भोगो को बन्द कराने की प्रथा—यह सब अहिंसा की भावना का ही परिणाम है।

मानवजाति की सेवा करने की प्रवृत्ति

अब तक हमने पशु, पक्षी तथा दूसरे जीवजन्तुओ के बारे मे ही विचार किया। अब हम मानवजाति की ओर उन्मुख हो। देश मे दानप्रथा इतनी प्रचण्ड रूप से चलती थी कि उसकी वजह से कोई मनुष्य शायद ही भूखा रहता। भयकर और व्यापक लम्बे आकालों मे जगडूशा जैसे दानी गृहस्थों ने अपने अन्न-भण्डार तथा खज़ाने खोल दिये थे इसके विश्वस्त प्रमाण विद्यमान हैं। जिस देश मे पशुपक्षी एव दूसरे क्षुद्र जीवो के लिए करोड़ो रुपयो का खर्च किया जाता हो उस देश मे मानवजाति के लिए दयावृत्ति कम हो अथवा तो उसके लिए कुछ भी न किया गया हो ऐसी कल्पना करना भी विचारशक्ति के बाहर की बात है। हमारे देश का आतिथ्य प्रसिद्ध है और यह आतिथ्य मानवजाति का ही उपलक्षक है। देश मे लाखो त्यागी और साधु-सन्यासी हो गये हैं और आज भी है। वे आतिथ्य अथवा मानव के प्रति लोगों की वृत्ति का एक निदर्शन है। अपाहिजो, अनाथो और बीमारो के लिए अधिक से अधिक करने का विधान ब्राह्मण, बौद्ध और जैन शास्त्रों मे आता है, जो तत्कालीन लोकरुचि का प्रतिघोष ही है। मानवजाति की सेवा की प्रतिदिन बढती जाती आवश्यकता के कारण तथा पड़ौसी-धर्म की महत्ता सर्वप्रथम होने से बहुत बार कई लोग आवेगवश एव जल्दबाजी मे अहिसा-प्रेमी लोगो को ऐसा कह देते है कि उनकी अहिसा चीटे-चींटे और बहुत हुआ तो पशु-पक्षी तक गई है, मानवजाति तथा देशबन्धुओ तक उसका बहुत कम प्रसार हुआ है। परन्तु यह विधान योग्य नही है इसके लिए नीचे की बाते पर्याप्त समझी जायेगी।

(१) प्राचीन और मध्यकाल को एक ओर रखकर यदि अन्तिम सौ वर्षो मे छोटे-बड़े और भयकर अकालो तथा दूसरी प्राकृतिक आपत्तियो को लेकर उस समय का इतिहास देखे, तो उनमे अन्न-कष्ट से पीड़ित मनुष्यों के लिए अहिसा-पोषक सघ की ओर से कितना-कितना किया गया है! कितना अन्न बाँटा गया है! औषधोपचार और कपडो के लिए भी कितना किया गया है! उदाहरणार्थ वि. स. १९५६ का अकाल लें, जिसका ब्योरा प्राप्त किया जा सकता है।

(२) अकाल या वैसी कोई दूसरी प्राकृतिक आपत्ति न हो उस समय

भी छोटे गाँवों तक में यदि कोई भूखे मर रहा हो ऐसा ज्ञात हो तो उसके लिए महाजन अथवा कोई एकाध गृहस्थ क्या और किस तरह सहायता करता हैं इसकी जानकारी प्राप्त की जाय।

(३) आधे करोड जितने फकीरों, बावाओ और मावुसन्तों का वर्ग अधिकांशतः श्रम किये बिना ही दूसरे साधारण श्रमिकवर्ग जितने ही सुख और आराम से हमेशा निभता आया है और अब भी निभ रहा है।

अमारिका निषेधात्मक और भावात्मक रूप : अहिंसा और दया

अहिंसा अथवा अमारिके दो रूप है : (१) निषेधात्मक, (२) उसमें से फलित होने वाला भावात्मक। किसी को आघात न पहुँचाना अथवा किसी को अपने दुःख का, उसकी अनिच्छा से, साक्षी न बनाना, यह निषेधात्मक अहिंसा है। दूसरे के दुःख मे हाथ बँटाना अथवा तो अपनी सुख-सुविधा का लाभ दूसरे को देना, यह भावात्मक अहिंसा है। यही भावात्मक अहिंसा दया अथवा सेवा कही जाती है। सुविधा की दृष्टि से हम उक्त दोनो प्रकार की अहिंसा का अनुक्रम से अहिंसा और दया इन दो नामो से व्यवहार करेंगे। अहिंसा एक ऐसी वस्तु है जिस की दया की अपेक्षा कही अधिक मूल्यवत्ता होने पर भी वह दया की भाँति एकदम सबकी नजर मे नही आती। दया को लोकगम्य कहे, तो अहिंसा को स्वगम्य कह सकते है। अहिंसाका अनुसरण करनेवाला मनुष्य उसकी सुगन्ध का अनुभव करता है। उसका लाभ तो अनिवार्यतः दूसरो को मिलता है, परन्तु बहुत बार लाभ पानेवाले तक को उस लाभ के कारणरूप अहिंसातत्त्व का ख्याल तक नही आता और उस अहिंसा का सुन्दर प्रभाव दूसरो के मन पर पडने मे बहुत बार काफी लम्बा समय बीत जाता है। दया के बारे मे इससे उल्टा है। दया एक ऐसी वस्तु है, जिसके पालनेवाले की अपेक्षा उसका लाभ उठानेवाले को ही वह अधिक सुगन्ध देती है। दया का सुन्दर प्रभाव दूसरो के मन पर पड़ने मे समय नही लगता। इससे दया खुली तलवार की तरह सबकी दृष्टि मे आ जाय ऐसी वस्तु है। इसीलिए उसके आचरण मे ही धर्म की प्रभावना दिखती है।

समाज के व्यवस्थित धारण एव पोषण के लिए अहिंसा एव दया दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। जिस समाज और जिस राष्ट्र में जितने अंश में

दूसरों का उत्पीडन अधिक होता हो, निर्बलो के अधिकार अधिक कुचले जाते हों, वह समाज अथवा वह राष्ट्र उतना ही अधिक दु खी और गुलाम होगा। इससे विपरीत, जिस समाज और जिस राष्ट्र मे एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर अथवा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर जितना त्रास कम अथवा दूसरे निर्बलो के अधिकारो की जितनी अधिक रक्षा, उतना ही वह समाज और वह राष्ट्र अधिक सुखी और स्वतत्र होगा। इसी प्रकार जिस समाज और जिस राष्ट्र मे सबल व्यक्तियो की ओर से निर्बलो के लिए अपनी सुख-सुविधा का जितना भोग दिया जायगा, जितनी उनकी अधिक सेवा की जायगी, उतना वह समाज और वह राष्ट्र अधिक स्वस्थ और सम्पन्न होगा। इससे उल्टा, जितनी अधिक स्वार्थवृत्ति होगी उतना ही अधिक वह समाज पामर और छिन्न-भिन्न होगा। इस प्रकार हम समाजो और राष्ट्रो के इतिहास पर से जो एक निश्चित परिणाम निकाल सकते है वह यह कि अहिसा और दया ये दोनो जितने आध्यात्मिक हित करनेवाले तत्त्व है उतने ही वे समाज और राष्ट्र के धारक एव पोषक तत्त्व भी है।

इन दोनो तत्त्वो की जगत के कल्याण के लिए समान आवश्यकता होने पर भी अहिसा की अपेक्षा दयावृत्ति को जीवन मे उतारना कुछ सरल है। अन्तर्दर्शन के बिना अहिंसा को जीवन मे उतारना शक्य नही है, परन्तु दया तो जिन्हे अन्तर्दर्शन नही हुआ है ऐसे हमारे-जैसे साधारण लोगो के जीवन मे भी उतर सकती है।

अहिसा नकारात्मक होने से दूसरे किसी को त्रास देने के कार्य से मुक्त रहने मे वह आ जाती है और उसमे बहुत बारीकी से विचार न किया हो तो भी उसका अनुसरण विधिपूर्वक शक्य है, जबकि दया के बारे मे ऐसा नही है। भावात्मक होने से और उसके आचरण का आधार सयोग और परि-स्थिति पर रहने से दया के पालन मे विचार करना पड़ता है, बहुत सावधान रहना पडता है और देश-काल की स्थिति का खूब ध्यान रखना पड़ता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ४५१-४५६)

संथारा और अहिंसा

हिंसा का मतलब है—प्रमाद या रागद्वेष या आसक्ति। उसका त्याग ही

अहिंसा है। जैन ग्रन्थों मे प्राचीन काल से चली आनेवाली आत्मघात की प्रथाओं का निषेध किया है। पहाड से गिरकर, पानी मे डूबकर, जहर खाकर आदि प्रथाएँ मरने की थी और है—धर्म के नाम पर भी और दुनयावी कारणों से भी। जैसे पशु आदि की बलि धर्म रूप मे प्रचलित है वैसे ही आत्मबलि भी प्रचलित रही, और कही-कही अब भी है; खासकर शिव या शक्ति के सामने।

एक तरफ से ऐसी प्रथाओ का निषेध और दूसरी तरफ से प्राणान्त अनशन या सथारे का विधान। यह विरोध जरूर उलझन मे डालनेवाला है, पर भाव समझने पर कोई भी विरोध नही होता। जैनधर्म ने जिस प्राणनाश का निषेध किया है वह प्रमाद या आसक्तिपूर्वक किये जानेवाले प्राणनाश का ही। किसी ऐहिक या पारलौकिक सपत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से और अन्य अभ्युदय की वाञ्छा से धर्मबुध्या तरह-तरह के आत्मवध होते रहे है। जैनधर्म कहता है वह आत्मवध हिंसा है, क्योकि उसका प्रेरक तत्त्व कोई-न-कोई आसक्तिभाव है। प्राणान्त अनशन और सथारा भी यदि उसी भाव से या डर से या लोभ से किया जाय तो वह हिंसा ही है। उसे जैनधर्म करने की आज्ञा नही देता। जिस प्राणान्त अनशन का विधान है, वह है समाधिमरण।

जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण-सयम—इनमें से एक ही की पसदगी करने का विषम समय आ गया तब यदि सचमुच सयमप्राण व्यक्ति हो तो वह देहरक्षा की परवाह नही करेगा। मात्र देह की बलि देकर भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचा लेगा; जैसे कोई सच्ची सती दूसरा रास्ता न देखकर देह-नाश के द्वारा भी सतीत्व बचा लेती है। पर उस अवस्था मे भी वह व्यक्ति न किसी पर रुष्ट होगा, न किसी तरह भयभीत और न किसी सुविधा पर तुष्ट। उसका ध्यान एकमात्र सयत जीवन को बचा लेने और समभाव की रक्षा मे ही रहेगा। जब तक देह और सयम दोनो की समान भाव से रक्षा हो, तब तक दोनो की रक्षा कर्त्तव्य है, पर एक की ही पसदगी करने का सवाल आवे तब हमारे जैसे देहरक्षा पसद करेंगे और आध्यात्मिक सयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी उल्टा करेगा। जीवन तो दोनो ही हैं—दैहिक और आध्यात्मिक। जो जिसका

अधिकारी होता है, वह कसौटी के समय पर उसी को पसद करता है । और ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनवाले व्यक्ति के लिए प्राणान्त अनशन की इजाजत है; पामरों, भयभीतो या लालचियों के लिए नही । अब आप देखेंगे कि प्राणान्त अनशन देहरूप घर का नाश करके भी दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को गिरने से बचा लेता है। इसलिए वह खरे अर्थ मे तात्त्विक दृष्टि से अहिंसक ही है ।

देह का नाश आत्महत्या कब ? टीकाकारों को उत्तर

जो लेखक आत्मघात रूप मे ऐसे सथारे का वर्णन करते हैं वे मर्म तक नही सोचते; परन्तु यदि किसी अति उच्च उद्देश्य से किसी पर रागद्वेष बिना किए सपूर्ण मैत्रीभावपूर्वक निर्भय और प्रसन्न हृदय से बापू जैसा प्राणान्त अनशन करे, तो फिर वे ही लेखक उस मरण को सराहेंगे, कभी आत्मघात न कहेंगे, क्योकि ऐसे व्यक्ति का उद्देश्य और जीवनक्रम उन लेखकों की आँखो के सामने है, जबकि जैन परपरा मे सथारा करनेवाले चाहे शुभाशयी ही क्यो न हों, पर उनका उद्देश्य और जीवनक्रम इस तरह सुविदित नही । परन्तु शास्त्र का विधान तो उसी दृष्टि से है और उसका अहिंसा के साथ पूरा मेल भी है। इस अर्थ मे एक उपमा है। यदि कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश करने पर भी उसे जलने से बचा न सके तो वह क्या करेगा ? आखिर मे सबको जलता छोडकर अपने को बचा लेगा । यही स्थिति आध्यात्मिक जीवनेच्छु की रहती है। वह खामख्वाह देह का नाश कभी न करेगा। शास्त्र मे उसका निषेध है। प्रत्युत देहरक्षा कर्तव्य मानी गई है, पर वह सयम के निमित्त । आखिरी लाचारी मे ही निर्दिष्ट शर्तों के साथ देहनाश समाधिमरण है और अहिंसा भी ; अन्यथा बालमरण और हिंसा ।

भयंकर दुष्काल आदि तङ्गी मे देहरक्षा के निमित्त सयम से पतन होने का अवसर आवे या अनिवार्य रूप से मरण लानेवाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और फिर भी संयम या सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो, तब मात्र सयम और समभाव की दृष्टि से सथारे का विधान है, जिसमे एकमात्र सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन को ही

बचाने का लक्ष्य है। जब बापूजी आदि प्राणान्त अनशन की बात करते हैं और मशरूवाला आदि समर्थन करते हैं, तब उसके पीछे यही दृष्टिबिन्दु मुख्य है।

हिंसा नहीं, अपितु आध्यात्मिक वीरता

इसमे हिंसा की कोई बू तक नही है। यह तो उस व्यक्ति के लिए विधान है, जो एकमात्र आध्यात्मिक जीवन का उम्मेदवार और तदर्थ की हुई सत्प्रतिज्ञाओ के पालन मे रत हो। इस जीवन के अधिकारी भी अनेक प्रकार के होते रहे हैं। एक तो वह जिसने जिनकल्प स्वीकार किया हो, जो आज विच्छिन्न है। जिनकल्पी अकेला रहता है और किसी तरह किसी की सेवा नही लेता। उसके वास्ते अन्तिम जीवन की घडियो मे किसी की सेवा लेने का प्रसग न आवे, इसलिये अनिवार्य होता है कि वह सावध और शक्त अवस्था मे ही ध्यान और तपस्या आदि द्वारा ऐसी तैयारी करे कि न मरण से डरना पडे और न किसी ही सेवा लेनी पडे। वही सब जवाबदेहियो को अदा करने के बाद बारह वर्ष तक अकेला ध्यान-तप करके अपने जीवन का उत्सर्ग करना है। पर यह कल्प मात्र जिनकल्पी के लिये ही है। बाकी के विधान जुदे-जुदे अधिकारियो के लिए है। उन सबका सार यह है कि यदि की हुई सत्प्रतिज्ञाओ के भङ्ग का अवसर आवे और वह भङ्ग जो सहन कर नही सकता उसके लिए प्रतिज्ञाभग की अपेक्षा प्रतिज्ञापालनपूर्वक मरण लेना ही श्रेयस्कर है। आप देखेगे कि इसमे आध्यात्मिक वीरता है। स्थूल जीवन के लोभ से, आध्यात्मिक गुणो से च्युत होकर मृत्यु से भागने की कायरता नही है। और न तो स्थूल जीवन की निराशा से ऊबकर मृत्यु के मुख मे पडने की आत्मवध कहलानेवाली बालिशता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु से जितना ही निर्भय, उतना ही उसके लिए तैयार भी रहता है। वह जीवनप्रिय होता है, जीवन-मोही नही। सलेखना मरण को आमन्त्रित करने की विधि नही है, पर अपने-आप आनेवाली मृत्यु के लिए निर्भय तैयारी मात्र है। उसी के बाद सथारे का भी अवसर आ सकता है। इस तरह यह सारा विचार अहिंसा और तन्मूलक सद्गुणो की तन्मयता मे से ही आया है, जो आज भी अनेक रूप से शिष्टसमत है।

बौद्धधर्म में आत्मवध

राधाकृष्णन ने जो लिखा है कि बौद्ध-धर्म 'स्युसाइड' को नही मानता, सो ठीक नहीं है। खुद बुद्ध के समय भिक्षु छन्न और भिक्षु वल्कली ने ऐसे ही असाध्य रोग के कारण आत्मवध किया था, जिसे तथागत ने मान्य रखा। दोनों भिक्षु अप्रमत्त थे। उनके आत्मवध मे फर्क यह है कि वे उपवास आदि के द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु की तैयारी नही करते, किन्तु एकबारगी शस्त्रवध से स्वनाश करते है, जिसे 'हरीकरी' कहना चाहिए। यद्यपि ऐसे शस्त्रवध की संमति जैन ग्रथो मे नही है, पर उसके समान दूसरे प्रकार के वधो की संमति है। दोनो परम्पराओं मे मूल भूमिका सम्पूर्ण रूप से एक ही है और वह मात्र समाधिजीवन की रक्षा। 'स्युसाइड' शब्द कुछ निंद्य-सा है। शास्त्र का शब्द समाधिकरण और पडितमरण है, जो उपयुक्त है। उक्त छन्न और वल्कली की कथा अनुक्रम से मज्झिमनिकाय और सयुक्तनिकाय मे है।

कतिपय सूक्त

नमूने के लिए कुछ प्राकृत पद्य और उनका अनुवाद देता हूं—

मरणपडियारभूया एसा एव च ण मरणणिमित्ता।
जह गडच्छेअकिरिया णो आयविराहणारूवा ॥

समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नही, किन्तु उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे फोड़े को नश्तर लगाना आत्मविराधना के लिए नही होता।

'जीविय नाभिकखेज्जा मरण नावि पत्थए।'

उसे न तो जीवन की अभिलाषा है और न मरण के लिए वह प्रार्थना ही करता है।

'अप्पा खलु संथारो हवई विसुद्धचरित्तम्भि।'

चरित्र मे स्थित विशुद्ध आत्मा ही सथारा है।

(द० औ० चिं० खं० २, पृ० ५३३-५३६)

: ८ :

तप

बौद्ध-पिटकों मे अनेक जगह 'निगठ' के साथ 'तपस्सी', 'दीघ तपस्सी' ऐसे विशेषण आते है। इस तरह कई बौद्ध सुत्तों मे राजगृही आदि जैसे स्थानों में तपस्या करते हुए निर्ग्रन्थो का वर्णन है, और खुद तथागत बुद्ध के द्वारा की गई निर्ग्रन्थो की तपस्या की समालोचना भी आती है।[1] इसी तरह जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी शिष्यो से कही वहाँ भी उन्होने अपने साधना-काल मे की गई कुछ ऐसी तपस्याओ का[2] वर्णन किया है, जो एकमात्र निर्ग्रन्थ-परंपरा की ही कही जा सकती है और इस समय उपलब्ध जैन आगमों में वर्णन की गई निर्ग्रन्थ-तपस्याओ के साथ अक्षरश मिलती हैं। अब हमें देखना यह है कि बौद्ध पिटको मे आनेवाला निर्ग्रन्थ-तपस्या का वर्णन कहाँ तक ऐतिहासिक है।

तपश्चर्याप्रधान निर्ग्रन्थ-परम्परा

खुद ज्ञातपुत्र महावीर का जीवन ही केवल उग्र तपस्या का मूर्त स्वरूप है, जो आचाराग के प्रथम श्रुतस्कध मे मिलता है। इसके सिवाय आगमों के सभी पुराने स्तरों मे जहाँ कही किसी के प्रव्रज्या लेने का वर्णन आता है वहाँ शुरू मे ही हम देखते है कि वह दीक्षित निर्ग्रन्थ तप.कर्म[3] का आचरण करता है। एक तरह से महावीर के साधुसघ की सारी चर्या ही तपोमय मिलती है। अनुत्तरोववाई आदि आगमो मे अनेक ऐसे मुनियों का वर्णन

---

१. मज्झिम० सु० ५६ और १४।

२. देखो मज्झिम० सु० २६। प्रो० कोशाबीकृत 'बुद्धचरित'।

३. भगवती ९. ३३। २ १.। ९. ६।

है, जिन्होंने उत्कट तप से अपने देह को केवल पजर बना दिया[1] है। इसके सिवाय आज तक की जैन-परपरा का शास्त्र तथा साधु-गृहस्थो का आचार देखने से भी हम यही कह सकते है कि महावीर के शासन मे तप की महिमा अधिक रही है और उनके उत्कट तप का असर सघ पर ऐसा पडा है कि जैनत्व तप का दूसरा पर्याय ही बन गया है। महावीर के विहार के स्थानों में अंग-मगध, काशी-कोशल स्थान मुख्य है। जिस राजगृही आदि स्थान में तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थो का निर्देश बौद्ध ग्रन्थो मे आता है वह राजगृही आदि स्थान तो महावीर के साधना और उपदेश-समय के मुख्य धाम रहे है और उन स्थानो मे महावीर का निर्ग्रन्थ-सघ प्रधान रूप से रहा है। इस तरह हम बौद्ध पिटको और जैन आगमो के मिलान से नीचे लिखे परिणाम पर पहुँचते हैं—

१ खुद महावीर और उनका निर्ग्रन्थ-सघ तपोमय जीवन के ऊपर अधिक भार देते थे।

२. अङ्ग-मगध के राजगृही आदि और काशी-कोशल के श्रावस्ती आदि शहरो मे तपस्या करनेवाले निर्ग्रन्थ बहुतायत से विचरते और पाए जाते थे।

महावीर के पहले भी तपश्चर्या की प्रधानता

ऊपर के कथन से महावीर के समकालीन और उत्तरकालीन निर्ग्रन्थ-परपरा की तपस्या-प्रधान वृत्ति मे तो कोई सदेह रहता ही नही, पर अब विचारना यह है कि महावीर के पहले भी निर्ग्रन्थ-परपरा तपस्या-प्रधान थी या नही ?

इसका उत्तर हमे 'हाँ' मे ही मिल जाता है, क्योकि भ० महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे ही दीक्षा ली थी और दीक्षा के प्रारम्भ से ही वे तप की ओर झुके थे। इससे पार्श्वापत्यिक-परपरा का तप की ओर कैसा झुकाव था इसका हमे पता चल जाता है। भ० पार्श्वनाथ का जो जीवन जैन ग्रन्थो मे वर्णित है उसको देखने से भी हम यही कह सकते हैं कि

---

१. भगवती २. १।

पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ-परपरा तपश्चर्या-प्रधान रही। उस परपरा में भ० महावीर ने शुद्धि या विकास का तत्त्व अपने जीवन के द्वारा भले ही दाखिल किया हो, पर उन्होने पहले से चली आनेवाली पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे तपोमार्ग का नया प्रवेश तो नही किया। इसका सबूत हमे दूसरी तरह से भी मिल जाता है।

जहाँ बुद्ध ने अपनी पूर्व-जीवनी का वर्णन करते हुए अनेकविध तपस्याओं की नि सारता अपने शिष्यो के सामने कही है वहाँ निर्ग्रन्थ तपस्या का भी निर्देश किया है। बुद्ध ने ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही जन्म लिया था और गृहत्याग करके तपस्वी-मार्ग स्वीकार किया था। उस समय मे प्रचलित अन्यान्य पथो की तरह बुद्ध ने निर्ग्रन्थ पथ को भी थोडे समय के लिए स्वीकार किया था और अपने समय मे प्रचलित निर्ग्रन्थ-तपस्या का आचरण भी किया था। इसीलिए जब बुद्ध अपनी पूर्वाचरित तपस्याओ का वर्णन करते हैं, तब उसमे हूबहू निर्ग्रन्थ-तपस्याओ का स्वरूप भी आता है, जो अभी जैन ग्रन्थो और जैन-परपरा के सिवाय अन्यत्र कही देखने को नही मिलता। महावीर के पहले जिस निर्ग्रन्थ-तपस्या का बुद्ध ने अनुष्ठान किया वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा के सिवाय अन्य किसी निर्ग्रन्थ-परपरा की सम्भव नही है, क्योकि महावीर तो अभी मौजूद ही नही थे और बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु से लेकर उनके साधनास्थल राजगृही, गया, काशी आदि मे पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा का निर्विवाद अस्तित्व और प्राधान्य था। जहाँ बुद्ध ने सर्व प्रथम धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह सारनाथ भी काशी का ही एक भाग है, और वह काशी पार्श्वनाथ की जन्मभूमि तथा तपस्याभूमि रही है। अपनी साधना के समय जो बुद्ध के साथ पाँच दूसरे भिक्षु थे वे बुद्ध को छोड़कर सारनाथ—इसिपत्तन मे ही आकर अपना तप करते थे। आश्चर्य नही कि वे पाँच भिक्षु निर्ग्रन्थ-परम्परा के ही अनुगामी हो। कुछ भी हो, पर बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या का, भले ही थोड़े समय के लिए, आचरण किया था इसमे कोई सदेह नही है। और वह तपस्या पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा की ही हो सकती है। इससे हम यह मान सकते है कि ज्ञातपुत्र महावीर के पहले ही निर्ग्रन्थ-परपरा का स्वरूप तपस्या-प्रधान ही था।

ऊपर की चर्चा से निर्ग्रन्थ-परंपरा की तपस्या सबंधी ऐतिहासिक स्थिति यह फलित होती है कि कम-से-कम पार्श्वनाथ से लेकर निर्ग्रन्थ-परंपरा तपः-प्रधान रही है और उसके तप के झुकाव को महावीर ने और भी वेग दिया है। यहाँ हमारे सामने ऐतिहासिक दृष्टि से दो प्रश्न हैं। एक तो यह कि बुद्ध ने बार-बार निर्ग्रन्थ-तपस्याओ का जो प्रतिवाद या खडन किया है वह कहाँ तक सही है और उसके खडन का आधार क्या है ? और दूसरा यह है कि महावीर ने पूर्वप्रचलित निर्ग्रन्थ-तपस्या मे कोई विशेषता लाने का प्रयत्न किया है या नही और किया है तो क्या ?

बुद्ध के द्वारा किये गये खण्डन का स्पष्टीकरण

निर्ग्रन्थ तपस्या के खंडन करने के पीछे बुद्ध की दृष्टि मुख्य यही रही है कि तप यह कायक्लेश है, देहदमन मात्र है। उसके द्वारा दु खसहन का तो अभ्यास बढता है, लेकिन उससे कोई आध्यात्मिक सुख या चित्तशुद्धि प्राप्त नही होती। बुद्ध की उस दृष्टि का हम निर्ग्रन्थ दृष्टि के साथ मिलान करें तो कहना होगा कि निर्ग्रन्थ-परपरा की दृष्टि और बुद्ध की दृष्टि मे तात्त्विक अंतर कोई नही है, क्योकि खुद महावीर और उनके उपदेश को माननेवाली सारी निर्ग्रन्थ-परपरा का वाङमय दोनो एक स्वर से यही कहते हैं[1] कि कितना ही देहदमन का कायक्लेश उग्र क्यो न हो, पर यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश के निवारण मे नही होता तो वह देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है। इसका मतलब तो यही हुआ कि निर्ग्रन्थ-परपरा भी देहदमन या कायक्लेश को तभी तक सार्थक मानती है जब तक उसका संबन्ध आध्यात्मिक शुद्धि के साथ हो। तब बुद्ध ने प्रतिवाद क्यो किया ?— यह प्रश्न सहज ही होता है। इसका खुलासा बुद्ध के जीवन के झुकाव से तथा उनके उपदेशो से मिलता है। बुद्ध की प्रकृति विशेष परिवर्तनशील और विशेष तर्कशील रही है। उनकी प्रकृति को जब उग्र देहदमन से संतोष नही हुआ तब उन्होने उसे एक अन्त कह कर छोड़ दिया और ध्यानमार्ग,

---

१. दशवै० ९. ४–४; भग० ३–१।

नैतिक जीवन तथा प्रज्ञा पर ही मुख्य भार दिया। उनको इसी के द्वारा आध्यात्मिक सुख प्राप्त हुआ और उसी तत्त्व पर अपना नया संघ स्थापित किया।

नये सघ को स्थापित करनेवाले के लिए यह अनिवार्य रूप से जरूरी हो जाता है कि वह अपने आचार-विचार संबन्धी नए झुकाव को अधिक से अधिक लोकग्राह्य बनाने के लिए प्रयत्न करे और पूर्वकालीन तथा समकालीन अन्य सम्प्रदायो के मन्तव्यो की उग्र आलोचना करे। ऐसा किये बिना कोई अपने नये सघ में अनुयायियो को न तो एकत्र कर सकता है और न एकत्र हुए अनुयायियों को स्थिर रख सकता है। बुद्ध के नये संघ की प्रतिस्पर्द्धी अनेक परपराएँ मौजूद थी, जिनमे निर्ग्रन्थ-परपरा का प्राधान्य जैसा-तैसा न था। सामान्य जनता स्थूलदर्शी होने के कारण बाह्य उग्र तप और देह-दमन से सरलता से तपस्वियों की ओर आकृष्ट होती है, यह अनुभव सनातन है। एक तो, पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ परपरा के अनुयायियो को तपस्या-संस्कार जन्मसिद्ध था और दूसरे, महावीर के तथा उनके निर्ग्रन्थ-सघ के उग्र तपश्चरण के द्वारा साधारण जनता अनायास ही निर्ग्रन्थों के प्रति झुकती ही थी और तपोनुष्ठान के प्रति बुद्ध का शिथिल रुख देखकर उनके सामने प्रश्न कर बैठती थी कि आप तप को क्यो नही मानते[1] जबकि सब श्रमण तप पर भार देते हैं? तब बुद्ध को अपने पक्ष की सफाई भी करनी थी और साधारण जनता तथा अधिकारी एव राजा-महाराजाओं को अपने मतव्यों की ओर खीचना भी था। इसलिए उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता था कि वे तप की उग्र समालोचना करे। उन्होंने किया भी ऐसा ही। वे तप की समालोचना मे सफल तभी हो सकते थे, जब वे यह बतलाएँ कि तप केवल कष्टमात्र है।

उस समय अनेक तपस्वी-मार्ग ऐसे भी थे, जो केवल बाह्य विविध क्लेशों में ही तप की इतिश्री समझते थे। उन बाह्य तपोमार्गों की नि:सारता का जहाँ तक सबन्ध है वहाँ तक तो बुद्ध का तपस्या का खंडन

---

१. अगुत्तर, भा० १, पृ० २२०

यथार्थ है, पर जब आध्यात्मिक शुद्धि के साथ सबन्ध रखनेवाली तपस्याओं के प्रतिवाद का सवाल आता है तब वह प्रतिवाद न्यायपूत नही मालूम होता। फिर भी बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-तपस्याओ का खुल्लमखुल्ला अनेक बार विरोध किया है, तो इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि बुद्ध ने निर्ग्रन्थ-परम्परा को पूर्णतया लक्ष्य मे न लेकर केवल उसके बाह्य तप की ओर ध्यान दिया और दूसरी परपराओ के खडन के साथ निर्ग्रन्थ-परम्परा के तप को भी घसीटा। निर्ग्रन्थ-परम्परा का तात्त्विक दृष्टिकोण कुछ भी क्यों न रहा हो, पर मनुष्य-स्वभाव को देखते हुए तथा जैन ग्रन्थो मे आनेवाले[1] कतिपय वर्णनो के आधार पर हम यह भी कह सकते है कि सभी निर्ग्रन्थ-तपस्वी ऐसे नही थे जो अपने तप या देहदमन को केवल आध्यात्मिक शुद्धि मे ही चरितार्थ करते हों। ऐसी स्थिति मे यदि बुद्ध ने तथा उनके शिष्यो ने निर्ग्रन्थ-तपस्या का प्रतिवाद किया, तो वह अशत. सत्य भी कहा जा सकता है।

भगवान महावीर के द्वारा लाई गई विशेषता

दूसरे प्रश्न का जवाब हमे जैन आगमो से ही मिल जाता है। बुद्ध की तरह महावीर भी केवल देहदमन को जीवन का लक्ष्य न समझते थे, क्योकि ऐसे अनेकविध घोर देहदमन करनेवालो को भ० महावीर ने तापस या मिथ्या तप करनेवाला कहा है।[2] तपस्या के विषय मे भी पार्श्वनाथ की दृष्टि मात्र देहदमन या कायक्लेशप्रधान न होकर आध्यात्मिक शुद्धिलक्षी थी। पर इसमे तो सदेह ही नही है कि निर्ग्रन्थ-परम्परा भी काल के प्रवाह मे पड़कर और मानव-स्वभाव की निर्बलता के अधीन होकर आज की महावीर की परम्परा की तरह मुख्यतया देहदमन की ओर ही झुक गई थी और आध्यात्मिक लक्ष्य एक ओर रह गया था। भ० महावीर ने किया सो तो इतना ही है कि उस परंपरागत स्थूल तप का संबध आध्यात्मिक शुद्धि के साथ अनिवार्य रूप से जोड़ दिया और कह दिया कि सब प्रकार के कायक्लेश, उपवास आदि शरीरेन्द्रियदमन तप हैं, पर वे बाह्य तप हैं, आतरिक तप

१. उत्तरा० अ० १७।
२. भगवती ३. १। ११. ९।

नही ।[1] आन्तरिक व आध्यात्मिक तप तो अन्य ही है, जो आत्मशुद्धि से अनिवार्य संबन्ध रखते हैं और ध्यान-ज्ञान आदि रूप है। महावीर ने पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ-परपरा मे चले आनेवाले बाह्य तप को स्वीकार तो किया, पर उसे ज्यो का त्यो स्वीकार नही किया, बल्कि कुछ अश मे अपने जीवन के द्वारा उसमे उग्रता ला करके भी उस देहदमन का सबन्ध आभ्यन्तर तप के साथ जोडा और स्पष्ट रूप से कह दिया कि तप की पूर्णता तो आध्यात्मिक शुद्धि की प्राप्ति से ही हो सकती है। खुद आचरण से अपने कथन को सिद्ध करके जहाँ एक ओर महावीर ने निर्ग्रन्थ परपरा के पूर्वप्रचलित शुष्क देहदमन मे सुधार किया, वहाँ दूसरी ओर अन्य श्रमण-परपराओ मे प्रचलित विविध देहदमनो को भी अपूर्ण तप और मिथ्या तप बतलाया। इसलिए यह कहा जा सकता है कि तपोमार्ग मे महावीर की देन खास है और वह यह कि केवल शरीर और इन्द्रियदमन मे समा जानेवाले तप शब्द के अर्थ को आध्यात्मिक शुद्धि मे उपयोगी ऐसे सभी उपायो तक विस्तृत किया। यही कारण है कि जैन आगमो मे पद-पद पर आभ्यतर और बाह्य दोनो प्रकार के तपो का साथ-साथ निर्देश आता है।

बुद्ध को तप की पूर्व परपरा छोडकर ध्यान-समाधि की परपरा पर ही अधिक भार देना था, जब कि महावीर को तप की पूर्व परपरा बिना छोडे भी उसके साथ आध्यात्मिक शुद्धि का सबन्ध जोडकर ही ध्यान-समाधि के मार्ग पर भार देना था। यही दोनो की प्रवृत्ति और प्ररूपणा का मुख्य अन्तर था। महावीर के और उनके शिष्यों के तपस्वी जीवन का जो समकालीन जनता के ऊपर असर पडता था उससे बाधित होकर के बुद्ध को अपने भिक्षु-सघ मे अनेक कडे नियम दाखिल करने पडे, जो बौद्ध विनय-पिटक को देखने से मालूम हो जाता है।[2] तो भी बुद्ध ने कभी बाह्य तप का पक्षपात नही किया, बल्कि जहाँ प्रसग आया वहाँ उसका परिहास ही किया। खुद बुद्ध की इस शैली को उत्तरकालीन सभी बौद्ध लेखकों ने अपनाया है। फलत. आज

१. उत्तरा० ३।

२. उदाहरणार्थ—वनस्पति आदि के जन्तुओ की हिसा से बचने के लिए चातुर्मास का नियम—बौद्ध सघनो परिचय (गुजराती) पृ० २२।

हम यह देखते हैं कि बुद्ध का देहदमन-विरोध बौद्ध संघ में सुकुमारता में 'परिणत हो गया है, जबकि महावीर का बाह्य तपोजीवन जैन-परंपरा में केवल देहदमन में परिणत हो गया है, जो कि दोनों सामुदायिक प्रकृति के स्वाभाविक दोष हैं, न कि मूलपुरुषो के आदर्श के दोष।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५३३-५३६)

भगवान महावीर ने तप की शोध कुछ नयी नही की थी; तप तो उन्हें कुल और समाज की विरासत मे से ही मिला था। उनकी शोध यदि हो तो यह इतनी ही कि उन्होंने तप का—कठोर से कठोर तप का, देहदमन का और कायक्लेश का आचरण करने पर भी उसमें अन्तर्दृष्टि का समावेश किया, अर्थात् बाह्य तप को अन्तर्मुख बनाया। प्रसिद्ध दिगम्बर तार्किक समन्तभद्र की भाषा मे कहे तो भगवान महावीर ने कठोरतम तप किया, परन्तु इस उद्देश्य मे कि उसके द्वारा जीवन मे अधिकाधिक झाका जा सके, अधिकाधिक गहराई मे उतरा जा सके और जीवन का आन्तरिक मैल दूर किया जा सके। इसीलिए जैन तप दो भागो मे विभक्त होता है: एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य तप मे शरीर से सम्बद्ध और आँखो से देखे जा सके वैसे सभी नियमन आ जाते हैं, जबकि आभ्यन्तर तप मे जीवनशुद्धि के सभी आवश्यक नियम आ जाते है। भगवान दीर्घतपस्वी कहलाये वह मात्र बाह्य तप के कारण नही, परन्तु उस तप का अन्तर्जीवन मे पूर्ण उपयोग करने के कारण ही—यह बात भूलनी नही चाहिए।

तप का विकास

भगवान महावीर के जीवन-क्रम मे से अनेक परिपक्व फल के रूप में जो हमे विरासत मिली है उसमे तप भी एक वस्तु है। भगवान के पश्चात् आज तक के २५०० वर्षों मे जैन सघ ने जितना तप का और उसके प्रकारों का सक्रिय विकास किया है उतना दूसरे किसी सम्प्रदाय ने शायद ही किया हो। २५०० वर्षों के इस साहित्य मे से केवल तप और उसके विधानों से सम्बद्ध साहित्य को अलग छाँटा जाय, तो एक खासा अभ्यासयोग्य भाग तैयार हो सकता है। जैन तप केवल ग्रन्थो मे ही नही रहा, बल्कि वह तो चतुर्विध

संघ में सजीव और प्रचलित विविध तपों के प्रकारों का एक प्रतिघोषमात्र है। आज भी तप करने में जैन एक और अद्वितीय समझे जाते हैं। दूसरी किसी भी बात मे जैन शायद दूसरो की अपेक्षा पीछे रह जायँ, परन्तु यदि तप की परीक्षा—खास करके उपवास-आयबिल की परीक्षा—ली जाय तो समग्र देश में और सम्भवतः समग्र दुनिया मे पहले नम्बर पर आनेवाले लोगों मे जैन पुरुष नही तो स्त्रियाँ तो होगी ही, ऐसा मेरा विश्वास है। तप से सम्बन्ध रखनेवाले उत्सव, उद्यापन और वैसे ही दूसरे उत्तेजक प्रकार आज भी इतने अधिक प्रचलित है कि जिस कुटुम्ब ने—खास करके जिस स्त्री ने—तप करके छोटा-बडा उद्यापन न किया हो उसे एक तरह अपनी कमी महसूस होती है। मुगल सम्राट् अकबर का आकर्षण करनेवाली एक कठोर तपस्विनी जैन स्त्री ही थी।

परिषह

तप को तो जैन न हो वह भी जानता है, परन्तु परिषहों के बारे मे वैसा नही है। अजैन के लिए परिषह शब्द कुछ नया-सा लगेगा,[1] परन्तु उसका अर्थ नया नही है। घर का त्याग करके भिक्षु बननेवाले को अपने ध्येय की सिद्धि के लिए जो-जो सहन करना पडता है वह परिषह है। जैन आगमों मे ऐसे जो परिषह गिनाये गये है वे केवल साधु-जीवन को लक्ष्य में रखकर ही गिनाये हैं। बारह प्रकार का तप तो गृहस्थ और त्यागी दोनों को उद्दिष्ट करके बतलाया है, परन्तु बाईस परिषह तो त्यागी जीवन को उद्दिष्ट करके ही बतलाये हैं। तप और परिषह ये दो अलग-अलग से दीखते है, इनके भेद भी अलग-अलग हैं, फिर भी ये दोनों एक-दूसरे से अलग किये न जा सके ऐसे दो अकुर हैं।

व्रत-नियम और चारित्र ये दोनो एक ही वस्तु नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान भी दोनों से भिन्न वस्तु है। ऐसा होने पर भी व्रत-नियम, चारित्र और ज्ञान इन तीनो का योग एक व्यक्ति मे शक्य है और वैसा योग हो तभी

१. बौद्ध पिटको मे 'परिसह' के स्थान में 'परिसय' शब्द मिलता है। इस अर्थ मे 'उपसर्ग' शब्द तो सर्वसाधारण है।—सम्पादक

जीवन का अधिक से अधिक विकास शक्य है, इतना ही नही, वैसे योग-वाली आत्मा का ही अधिक व्यापक प्रभाव दूसरे पर पडता है; अथवा यों कहो कि वैसा ही मनुष्य दूसरो का नेतृत्व कर सकता है। इसी कारण भगवान ने तप और परिषहो मे इन तीन तत्त्वो का समावेश किया है। उन्होने देखा कि मानव का जीवनपथ लम्बा है, उसका ध्येय अत्यन्त दूर है, यह ध्येय जितना दूर है उतना ही सूक्ष्म है और उस ध्येय तक पहुँचते-पहुँचते बड़ी-बडी मुसीबते झेलनी पडती है, उस मार्ग मे भीतरी और बाहरी दोनो शत्रु आक्रमण करते है। उन पर पूर्ण विजय अकेले व्रतनियम से, अकेले चारित्र से अथवा अकेले तप से शक्य नही। इस तत्त्व का अपने जीवन मे अनुभव करने के बाद ही भगवान ने तप और परिषहो की ऐसी व्यवस्था की कि उनमे व्रत-नियम, चारित्र और ज्ञान इन तीनो का समावेश हो जाय। यह समावेश उन्होने अपने जीवन मे शक्य करके दिखलाया।

जैन तप में क्रियायोग और ज्ञानयोग का सामंजस्य

असल मे तो तप और परिषह की उत्पत्ति त्यागी एव भिक्षुजीवन मे से ही हुई है—यद्यपि इनका प्रचार और प्रभाव तो एक सामान्य गृहस्थ तक भी पहुँचा है। आर्यावर्त के त्यागजीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक शान्ति ही रहा है। अध्यात्मिक शान्ति अर्थात् क्लेशो और विकारो की शान्ति। आर्य ऋषियो के मन क्लेशो पर विजय ही सच्ची विजय है। इसीलिए महर्षि पतजलि तप का प्रयोजन बताते हुए कहते है कि 'तप क्लेशो को निर्बल करने तथा समाधि के सस्कारो को पुष्ट करने के लिए है।' तप को पतजलि क्रियायोग कहते है, क्योंकि वे तप मे व्रत-नियमो की ही परिगणना करते है। इसीलिए उनको क्रियायोग से भिन्न ज्ञानयोग मानना पड़ा है। परन्तु जैन तप मे क्रियायोग और ज्ञानयोग दोनो आ जाते है, और यह भी स्मरण मे रखना चाहिए कि बाह्य तप, जो क्रियायोग ही है, आभ्यन्तर तप यानी ज्ञानयोग की पुष्टि के लिए ही है, और वह ज्ञानयोग की पुष्टि के द्वारा ही जीवन के अन्तिम साध्य मे उपयोगी है, स्वतन्त्र रूप से नही।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ४४१-४४४)

: ९ :

जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्यविचार

जैन दृष्टि का स्पष्टीकरण

मात्र तत्त्वज्ञान या मात्र आचार मे जैन दृष्टि परिसमाप्त नही होती। वह तत्त्वज्ञान और आचार उभय की मर्यादा स्वीकार करती है। किसी भी वस्तु के (फिर वह जड हो या चेतन) सभी पक्षो का वास्तविक समन्वय करना—अनेकान्तवाद—जैन तत्त्वज्ञान की मूल नीव है, और रागद्वेष के छोटे-बडे प्रत्येक प्रसग से अलिप्त रहना—निवृत्ति—समग्र आचार का मूल आधार है। अनेकान्तवाद का केन्द्र मध्यस्थता मे है और निवृत्ति भी मध्यस्थता मे से ही पैदा होती है, अतएव अनेकान्तवाद और निवृत्ति ये दोनो एक-दूसरे के पूरक एव पोषक है। ये दोनो तत्त्व जितने अश मे समझे जायँ और जीवन मे उतरे उतने अश मे जैनधर्म का ज्ञान और पालन हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

जैनधर्म का झुकाव निवृत्ति की ओर है। निवृत्ति यानी प्रवृत्ति का विरोधी दूसरा पहलू। प्रवृत्ति का अर्थ है रागद्वेष के प्रसगो मे रत होना। जीवन मे गृहस्थाश्रम रागद्वेष के प्रसगो के विधान का केन्द्र है। अतः जिस धर्म मे गृहस्थाश्रम का विधान किया गया हो वह प्रवृत्तिधर्म और जिस धर्म मे 'गृहस्थाश्रम' नही परन्तु केवल त्याग का विधान किया गया हो वह निवृत्तिधर्म। जैनधर्म निवृत्तिधर्म होने पर भी उसका पालन करनेवालो मे जो गृहस्थाश्रम का विभाग है वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश मे निवृत्ति प्राप्त करने मे असमर्थ व्यक्ति जितने अशो मे निवृत्ति का सेवन करते है उतने अशो मे वे जैन हैं। जिन अशो मे निवृत्ति का सेवन न कर सके उन अशो मे अपनी परिस्थिति के अनुसार विवेकदृष्टि से वे प्रवृत्ति की मर्यादा कर सकते हैं; परन्तु उस प्रवृत्ति का विधान जैनशास्त्र

नही करता, उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है। इसलिए जैनधर्म को विधान की दृष्टि से एकाश्रमी कह सकते है। वह एकाश्रम यानी ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम का एकीकरणरूप त्याग का आश्रम।

इसी कारण जैनाचार के प्राणभूत समझे जानेवाले अहिंसा आदि पांच महाव्रत भी विरमण (निवृत्ति) रूप है। गृहस्थ के अणुव्रत भी विरमण-रूप हैं। फर्क इतना ही है कि एक मे सर्वाश मे निवृत्ति है और दूसरे में अल्पाश में। इस निवृत्ति का मुख्य केन्द्र अहिंसा है। हिंसा से सर्वांशतः निवृत्त होने मे दूसरे सभी महाव्रत आ जाते है। हिंसा के 'प्राणघात' रूप अर्थ की अपेक्षा जैन शास्त्र मे उसका बहुत सूक्ष्म और व्यापक अर्थ है। दूसरा कोई जीव दु खी हो या नही, परन्तु मलिन वृत्तिमात्र से अपनी आत्मा की शुद्धता नष्ट हो तो भी वह हिंसा है। ऐसी हिंसा मे प्रत्येक प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल पापवृत्ति आ जाती है। असत्यभाषण, अदत्तादान (चौर्य), अब्रह्म (मैथुन अथवा कामाचार) और परिग्रह—इन सबके पीछे या तो अज्ञान या फिर लोभ, क्रोध, कुतूहल अथवा भय आदि मलिन वृत्तियाँ प्रेरक होती ही हैं। अत असत्य आदि सभी प्रवृत्तियाँ हिंसात्मक ही है। ऐसी हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा का पालन है, और वैसे पालन में स्वाभाविक रूप से दूसरे सब निवृत्तिगामी धर्म आ जाते है। जैनधर्म के अनुसार बाकी के सभी विधि-निषेध उक्त अहिंसा के मात्र पोषक अंग ही है।

चेतना और पुरुषार्थ आत्मा के मुख्य बल हैं। इन बलो का दुरुपयोग रोका जाय तभी सदुपयोग की दिशा मे उनको मोड़ा जा सकता है। इसीलिए जैनधर्म प्रथम तो दोषविरमण (निषिद्धत्याग) रूप शील का विधान करता है; परन्तु चेतना और पुरुषार्थ ऐसे नही है कि वे मात्र अमुक दिशा मे न जाने की निवृत्तिमात्र से निष्क्रिय होकर पड़े रहे। वे तो अपने विकास की भूख दूर करने के लिए गति की दिशा ढूढते ही रहते है। इसीलिए जैन-धर्म ने निवृत्ति के साथ ही शुद्ध प्रवृत्ति (विहित आचरणरूप चारित्र) के विधान भी किये हैं। उसने कहा है कि मलिन वृत्ति से आत्मा का घात न होने देना और उसके रक्षण में ही (स्वदया में ही) बुद्धि और पुरुषार्थ का उपयोग करना चाहिए। प्रवृत्ति के इस विधान मे से ही सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य,

सन्तोष आदि विधिमार्ग निष्पन्न होते हैं। इतने विवेचन पर से यह ज्ञात होगा कि जैन दृष्टि के अनुसार कामाचार से निवृत्ति तो अहिंसा का मात्र एक अंश है और उस अंश का पालन होते ही उसमे से ब्रह्मचर्य का विधि-मार्ग प्रकट होता है। कामाचार से निवृत्ति बीज है और ब्रह्मचर्य उसका परिणाम है।

भगवान महावीर का उद्देश्य उपर्युक्त निवृत्ति धर्म का प्रचार है; इससे उनके उद्देश्य मे जातिनिर्माण, समाजसगठन, आश्रमव्यवस्था आदि को स्थान नही है। लोकव्यवहार की चालू भूमिका में से चाहे जो अधिकारी अपनी शक्ति के अनुसार निवृत्ति ले और उसका विकास साधे तथा उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करे—इस एकमात्र उद्देश्य से भगवान महावीर के विधि-निषेध है। इसलिए उसमे गृहस्थाश्रम या विवाहसंस्था का विधिविधान न हो यह स्वाभाविक है। विवाहसस्था का विधान न होने से उससे सम्बन्ध रखने-वाली बाते भी जैन आगमो मे नही आती।

कुछ मुद्दे

जैन सस्था मुख्य रूप से त्यागियो की सस्था होने से और उसमें कमोबेश मात्रा मे त्याग का स्वीकार करनेवाले व्यक्तियो का प्रमुख स्थान होने से ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखनेवाली पुष्कल जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय मुद्दे लेकर जैन शास्त्रो के आधार पर कुछ लिखने का विचार है। वे मुद्दे इस प्रकार है :—

(१) ब्रह्मचर्य की व्याख्या, (२) ब्रह्मचर्य के अधिकारी स्त्री-पुरुष, (३) ब्रह्मचर्य के अलग निर्देश का इतिहास, (४) ब्रह्मचर्य का ध्येय और उसके उपाय, (५) ब्रह्मचर्य के स्वरूप की विविधता और उसकी व्याप्ति, (६) ब्रह्मचर्य के अतिचार, (७) ब्रह्मचर्य की निरपवादता।

१. व्याख्या

जैन शास्त्रों मे ब्रह्मचर्य की दो व्याख्याएँ उपलब्ध होती है। पहली व्याख्या बहुत विशाल और सम्पूर्ण है।[1] उस व्याख्याके अनुसार ब्रह्मचर्य यानी

१. सूत्रकृतांगसूत्र श्रु० २, अ० ५, गा० १।

जीवनस्पर्शी सम्पूर्ण सयम। इस सयम मे मात्र पापवृत्तियों पर अंकुश रखने का—जैन परिभाषा मे कहे तो आस्रवनिरोध का—ही समावेश नही होता, परन्तु वैसे सम्पूर्ण संयम मे श्रद्धा, ज्ञान, क्षमा आदि स्वाभाविक सद्वृत्तियों के विकास का भी समावेश हो जाता है। अत पहली व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य यानी काम-क्रोधादि प्रत्येक असद्वृत्ति को जीवन मे उत्पन्न होने से रोककर, श्रद्धा, चेतना, निर्भयता आदि सद्वृत्तियो को —ऊर्ध्वगामी धर्मों को—जीवन मे प्रकट करके उनमे तन्मय होना।

सामान्य लोगो मे ब्रह्मचर्य शब्द का जो अर्थ प्रसिद्ध है और जो ऊपर कहे गये सम्पूर्ण सयम का मात्र एक अश ही है वह अर्थ ब्रह्मचर्य शब्द की दूसरी व्याख्या मे जैन शास्त्रो ने भी मान्य रखा है।[1] उस व्याख्या के अनुसार ब्रह्मचर्य यानी मैथुनविरमण अर्थात् कामसग का—कामाचार का—अब्रह्म का त्याग। इस दूसरे अर्थ मे ब्रह्मचर्य का शब्द इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया है कि ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी कहने से प्रत्येक व्यक्ति उसका अर्थ सामान्यत इतना ही समझता है कि मैथुनसेवन से दूर रहना ब्रह्मचर्य है और जीवन के दूसरे अंगो मे चाहे जितना असयम होने पर भी मात्र कामसग से दूर रहता हो तो वह ब्रह्मचारी है। यह दूसरा अर्थ ही व्रत-नियम स्वीकार करते समय लिया जाता है और इसीलिए जब कोई गृहत्याग करके भिक्षु होता है अथवा घर मे रहकर मर्यादित त्याग का स्वीकार करता है, तब ब्रह्मचर्य का नियम अहिंसा के नियम से अलग करके ही लिया जाता है।[2]

२. अधिकारी तथा विशिष्ट स्त्री-पुरुष

(अ) स्त्री अथवा पुरुष जाति का तनिक भी भेद रखे बिना दोनो को समान रूप से ब्रह्मचर्य के अधिकारी माना है। इसके लिए आयु, देश, काल इत्यादि किसी का प्रतिबन्ध नही है। इसके लिए स्मृतियो मे भिन्न मत हैं। उनमे इस प्रकार के समान अधिकारो को अस्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य

---

१. तत्त्वार्थभाष्य अ० ९, सू० ६।

२. अहिंसा और ब्रह्मचर्य के पालन की प्रतिज्ञा के लिए देखो पाक्षिकसूत्र पृ० ८ तथा २३।

के लिए आवश्यक आत्मबल स्त्री और पुरुष दोनों समान भाव से प्रकट कर सकते हैं, इस बारे मे जैन एव बौद्ध शास्त्रों का मत एक-सा है। इसी कारण विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाली अनेक स्त्रियो मे से सोलह स्त्रियाँ महासती के रूप मे प्रत्येक जैन घर मे प्रसिद्ध हैं और प्रात काल आबालवृद्ध प्रत्येक जैन कतिपय विशिष्ट सत्पुरुषो के नामो के साथ उन महासतियो के नामो का भी पाठ करता है और उनके स्मरण को परम मगल मानता है।

(आ) कई ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियो के ब्रह्मचर्यजीवन मे शिथिल होने के उदाहरण मिलते है, तो उनसे भी अधिक आकर्षक उदाहरण ब्रह्मचर्य मे अद्भुत स्थिरता बतानेवाले स्त्री-पुरुषो के हैं। वैसे स्त्री-पुरुषों मे केवल त्यागी व्यक्ति ही नही, परन्तु गृहस्थाश्रम मे रहे हुए व्यक्ति भी आते है। बिम्बिसार श्रेणिक राजा का पुत्र भिक्षु नन्दिषेण मात्र कामराग के वशीभूत हो, ब्रह्मचर्य से च्युत होकर पुन. बारह वर्ष तक भोगजीवन अगीकार करता है। आषाढभूति नामक मुनि ने भी वैसा ही किया था। आर्द्र-कुमार नाम का राजपुत्र ब्रह्मचर्य-जीवन से शिथिल हो चौबीस वर्ष तक पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करता है; और अन्त मे एक बार चलित होनेवाले ये तीनो मुनि पुन. दुगुने बल से ब्रह्मचर्य में स्थिर होते हैं। इससे उल्टा, भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य श्री सुधर्मा गुरु के पास से वर्तमान जैन आगमो के धारक के रूप मे प्रसिद्ध श्री जम्बू नामक वैश्यकुमार ने विवाह के दिन से ही अपनी आठ स्त्रियों को, उनका अत्यन्त आकर्षण होने पर भी, छोड़कर तारुण्य मे ही सर्वथा ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया और उस अद्भुत एवं अखण्ड प्रतिज्ञा के द्वारा आठो नवपरिणीत कन्याओ को अपने मार्ग पर आने के लिए प्रेरित किया। कोशा नामक वेश्या के हावभावो और रसपूर्ण भोजन के बावजूद तथा उसी के घर पर एकान्तवास करने पर भी नन्दमत्री शकटाल के पुत्र स्थूलभद्र ने अपने ब्रह्मचर्य में तनिक भी आँच आने नही दी थी और उसके प्रभाव से उस कोशा को पक्की ब्रह्मचारिणी बनाया था।

जैनो के परमपूज्य तीर्थंकरों में स्थान प्राप्त मल्लि जाति से स्त्री थी। उन्होने कौमार अवस्था में अपने ऊपर आसक्त हो विवाह के लिए आये हुए छः राजकुमारों को मार्मिक उपदेश देकर विरक्त बनाया और अन्त में ब्रह्मचर्य सिखाकर तथा अपने अनुयायी बनाकर गुरुपद के लिए स्त्रीजाति

की योग्यता सिद्ध करने की बात जैनो मे अत्यन्त प्रसिद्ध है।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा विवाह से पूर्व ही परित्यक्त और बाद में साध्वी बनी राजकुमारी राजीमती ने गिरनार की गुफा के एकान्त में उसके सौन्दर्य को देखकर ब्रह्मचर्य से चलित होनेवाले साधु और पूर्वाश्रम के अपने देवर रथनेमि को ब्रह्मचर्य मे स्थिर होने के लिए जो मार्मिक उपदेश दिया है और रथनेमि को पुन स्थिर करके स्त्रीजाति पर हमेशा से किये जाते चचलता और अबलात्व के आरोप को हटाकर धीर साधको में जो विशिष्ट प्रख्याति प्राप्त की है उसे सुनने से और पढने से आज भी ब्रह्मचर्य के साधको को अपूर्व धैर्य प्राप्त होता है।

ब्रह्मचारिणी श्राविका बनने के बाद कोशा वेश्या ने अपने यहाँ आये हुए और चचल मनवाले भी स्थूलभद्र के गुरुभाई को उपदेश देकर स्थिर करने की जो बात आती है वह पतनशील पुरुष के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा स्त्रीजाति का गौरव बढानेवाली है।

परन्तु इन सबसे अधिक उदात्त दृष्टान्त विजय सेठ और विजया सेठानी का है। ये दोनो दम्पती विवाह के पश्चात् एकशयनशायी होने पर भी अपनी-अपनी शुक्ल और कृष्ण पक्ष मे ब्रह्मचर्यपालन की पहले ली गई भिन्न-भिन्न प्रतिज्ञा के अनुसार उसमे प्रसन्नतापूर्वक समग्र जीवनपर्यन्त अडिग रहे और सर्वदा के लिए स्मरणीय बन गये। इस दम्पती की दृढता, प्रथम दम्पती और पीछे से भिक्षुक जीवन अगीकार करनेवाले बौद्ध भिक्षु महाकाश्यप तथा भिक्षुणी भद्रा कपिलानी की[1] अलौकिक दृढता का स्मरण कराती है। ऐसे अनेक आख्यान जैन साहित्य मे आते है। उनमे ब्रह्मचर्य से चलित होनेवाले पुरुष को स्त्री द्वारा स्थिर कराने के जैसे ओजस्वी दृष्टान्त हैं वैसे ओजस्वी दृष्टात चलित होनेवाली स्त्री को पुरुष के द्वारा स्थिर कराने के नही है अथवा एकदम विरल है।

३. ब्रह्मचर्य के अलग निर्देश का इतिहास

जैन परम्परा मे चार और पाँच यामो के (महाव्रतो के) अनेक उल्लेख

---

१. देखो 'बौद्ध सघनो परिचय' (गु०) पृ० १९० तथा २७४।

आते हैं। सूत्रो मे आनेवाले वर्णनों[1] पर से ज्ञात होता है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में चार याम (महाव्रत) का प्रचार था और श्री महावीर भगवान ने उनमे एक याम (महाव्रत) बढाकर पचयामिक धर्म का उपदेश दिया। आचारागसूत्र मे धर्म के तीन याम[2] भी कहे गये हैं। उसकी व्याख्या देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि तीन याम की परम्परा भी जैन-सम्मत होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी जमाने मे जैन परम्परा मे (१) हिसा का त्याग, (२) असत्य का त्याग, और (३) परिग्रह का त्याग—ये तीन ही याम थे। पीछे से उसमे चौर्य के त्याग का समावेश करके तीन के चार याम हुए और अन्त मे कामाचार के त्याग को जोड़कर भगवान महावीर ने चार के पाँच याम किये। इस प्रकार भगवान महावीर के समय से और उन्ही के श्रीमुख से उपदिष्ट ब्रह्मचर्य का पृथक्त्व जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। जिस समय तीन या चार याम थे उस समय भी पालन तो पाँच का होना था, उस समय के विचक्षण और सरल मुमुक्षु चौर्य और कामाचार को परिग्रहरूप समझ लेते और परिग्रह के त्याग के साथ ही उन दोनों का त्याग भी अपने आप हो जाता। पार्श्वनाथ की परम्परा तक तो कामाचार का त्याग परिग्रह के त्याग मे ही आ जाता, फलत उसका अलग विधान नही हुआ था, परन्तु इस प्रकार के कामाचार के त्याग के अलग विधान के अभाव मे श्रमण सम्प्रदाय मे ब्रह्मचर्य मे शैथिल्य आया और कई तो वैसे अनिष्ट वातावरण मे फँसने भी लगे। इसीसे भगवान महावीर ने परिग्रहत्याग मे समाविष्ट होनेवाले कामाचार त्याग का भी एक खास महाव्रत के रूप मे अलग उपदेश किया।

४. ब्रह्मचर्य का ध्येय और उसके उपाय

जैनधर्म मे अन्य सभी व्रत-नियमों की भाँति ब्रह्मचर्य का साध्य भी केवल मोक्ष है। जगत की दृष्टि से महत्त्व की मानी जानेवाली चाहे जो बात ब्रह्मचर्य से सिद्ध हो सकती हो, तो भी यदि उससे मोक्ष की साधना

---

१. स्थानागसूत्र पृ० २०१।

२. आचारांगसूत्र श्रु० १, अ० ८, उ० १।

न की जाय तो, जैन दृष्टि के अनुसार, वह ब्रह्मचर्य लोकोत्तर (आध्यात्मिक) नही है। जैन दृष्टि के अनुसार मोक्ष में उपयोगी होनेवाली वस्तु का ही सच्चा महत्त्व है। शरीरस्वास्थ्य, समाजबल आदि उद्देश्य तो सच्चे मोक्ष-साधक आदर्श ब्रह्मचर्य में से स्वत सिद्ध होते है।

ब्रह्मचर्य को सम्पूर्ण रूप से सिद्ध करने के लिए दो मार्ग निश्चित किये गये हैं : पहला क्रियामार्ग और दूसरा ज्ञानमार्ग। क्रियामार्ग विरोधी काम-सस्कारो को उत्तेजित होने से रोककर उसके स्थूल विकार-विष को ब्रह्मचर्य-जीवन मे प्रवेश नही करने देता; अर्थात् वह उसका निषेधपक्ष सिद्ध करता है, परन्तु उससे काम-सस्कार निर्मूल नही होता। ज्ञानमार्ग उस काम-सस्कार को निर्मूल करके ब्रह्मचर्य को सर्वथा और सर्वदा के लिए स्वाभाविक-जैसा बनाता है, अर्थात् वह उसके विधिपक्ष को सिद्ध करता है। जैन परिभाषा मे कहे तो क्रियामार्ग द्वारा ब्रह्मचर्य औपशमिक भाव से सिद्ध होता है, जबकि ज्ञानमार्ग द्वारा क्षायिक भाव से सिद्ध होना है। क्रियामार्ग का कार्य ज्ञानमार्ग की महत्त्व की भूमिका तैयार करना है, अतएव वह मार्ग वस्तुतः अपूर्ण होने पर भी बहुत उपयोगी माना गया है, और प्रत्येक साधक के लिए प्रथम आवश्यक होने से उस पर जैन शास्त्रो में बहुत ही भार दिया जाता है। इस क्रियामार्ग में बाह्य नियमो का समावेश होता है। उन नियमो का नाम गुप्ति है। गुप्ति यानी रक्षा का साधन अर्थात् बाड़। वैसी गुप्तियाँ नौ मानी गई हैं। एक अधिक नियम उन गुप्तियो मे जोड़कर उन्ही का ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान के रूप मे वर्णन किया गया है।

क्रियामार्ग मे आनेवाले दस समाधिस्थानों का वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र के सोलहवें अध्ययन मे बहुत मार्मिक ढँग से किया गया है। उसका सार इस प्रकार है :—

(१) दिव्य अथवा मानुषी स्त्री के, बकरी, भेड आदि पशु के तथा नपुंसक के ससर्गवाले शयन, आसन और निवासस्थान आदि का उपयोग नही करना।

(२) अकेले एकाकी स्त्रियो के साथ सम्भाषण नही करना। केवल स्त्रियों से कथावार्ता आदि नही कहना और स्त्रीकथा भी नहीं कहना, अर्थात्

स्त्री की जाति, कुल, रूप और वेश आदि का वर्णन या विवेचन नहीं करना।

(३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना। जिस आसन पर स्त्री बैठी हो उस पर भी उसके उठने के बाद दो घड़ी तक नहीं बैठना।

(४) स्त्रियों के मनोहर नयन, नासिका आदि इन्द्रियों का अथवा उनके अंगोपांगो का अवलोकन नही करना और उनके बारे मे चिन्तन-स्मरण भी नही करना।

(५) स्त्रियो के रतिप्रसंग के अव्यक्त शब्द, रतिकलह के शब्द, गीत-ध्वनि, हास्य की किलकारियाँ, क्रीड़ा के शब्द और विरहकालीन रुदन के शब्द पर्दे के पीछे छिपकर अथवा दीवार की आड में रहकर भी नही सुनना।

(६) पूर्व मे अनुभूत, आचरित या सुनी गई रतिक्रीड़ा, कामक्रीड़ा आदि को याद नही करना।

(७) धातुवर्धक पौष्टिक भोजनपान नही लेना।

(८) सादा भोजनपान भी मात्रा से अधिक नही लेना।

(९) शृंगार नही करना अर्थात् कामराग के उद्देश्य से स्नान, विलेपन, धूप, माल्य, विभूषण अथवा वेश इत्यादि की रचना नहीं करना।

(१०) जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श कामगुण के ही पोषक हों उनका त्याग करना।

इनके अतिरिक्त कामोद्दीपक हास्य न करना, स्त्रियो के चित्र न रखना और न देखना, अब्रह्मचारी का ससर्ग न करना इत्यादि ब्रह्मचारी के लिए अकरणीय दूसरी अनेक प्रकार की क्रियाओ का इन दस स्थानों मे समावेश किया गया है।

सूत्रकार कहते हैं कि पूर्वोक्त निषिद्ध प्रवृत्तियों में से कोई भी प्रवृत्ति करनेवाला ब्रह्मचारी अपना ब्रह्मचर्य तो गँवायेगा ही, साथ ही उसे काम-जन्य मानसिक और शारीरिक रोगो के होने की भी सभावना रहती है।

५. ब्रह्मचर्य के स्वरूप को विविधता और उसकी व्याप्ति

ऊपर दी गई दूसरी व्याख्या के अनुसार 'कामसंग का त्याग' रूप ब्रह्मचर्य का जो भाव सामान्य लोग समझते हैं उसकी अपेक्षा बहुत सूक्ष्म और व्यापक भाव जैन शास्त्रों मे लिया गया है। जब कोई व्यक्ति जैनधर्म की मुनि-दीक्षा लेता है तब उस व्यक्ति के द्वारा ली जानेवाली पाँच प्रतिज्ञाओं में से

चौथी प्रतिज्ञा के रूप में ऐसे भाव के ब्रह्मचर्य का स्वीकार किया जाता है। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है. हे पूज्य गुरो ! मै सर्व मैथुन का परित्याग करता हूँ; अर्थात् दैवी, मानुषी या तिर्यंच (पशु-पक्षी सम्बन्धी) किसी प्रकार के मैथुन का मै मन से, वाणी से और शरीर से जीवनपर्यन्त सेवन नही करूँगा, तथा मन से, वचन से और शरीर तीनो प्रकार से दूसरो से जीवनपर्यन्त सेवन नही कराऊँगा और दूसरा कोई मैथुन का सेवन करता होगा तो उसमे मैं इन्ही तीनो प्रकार से जीवनपर्यन्त अनुमति भी नही दूगा।

यद्यपि मुनिदीक्षा मे स्थानप्राप्त उपर्युक्त नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य ही दूसरी व्याख्या द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्मचर्य का अन्तिम और सम्पूर्ण स्वरूप है, तथापि वैसे एक ही प्रकार के ब्रह्मचर्य का हरएक से पालन कराने का दुराग्रह अथवा मिथ्या आशा जैन आचार्यों ने कभी नही रखी। पूर्ण शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति हो तो ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण आदर्श कायम रह सकता है, परन्तु अल्पशक्ति अथवा अशक्तिवाला व्यक्ति हो तो पूर्ण आदर्श के नाम पर दम्भ का प्रचलन न हो इस स्पष्ट उद्देश्य से, शक्ति एव भावना की न्यूनाधिक योग्यता ध्यान मे रखकर, जैन आचार्यो ने असम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का भी उपदेश दिया है। जैसे सम्पूर्णता मे भेद के लिए अवकाश को स्थान नही है वैसे असम्पूर्णता मे अभेद की शक्यता ही नही है। इससे अपूर्ण ब्रह्मचर्य के अनेक प्रकार हो और उनके कारण उसके व्रत-नियमो की प्रतिज्ञाएँ भी भिन्न-भिन्न हो यह स्वाभाविक है। ऐसे असम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के उनचास प्रकारों की जैन शास्त्रो मे कल्पना की गई है, अधिकारी अपनी शक्ति के अनुसार उनमे से नियम ग्रहण करता है। मुनिदीक्षा के सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेने मे असमर्थ और फिर भी वैसी प्रतिज्ञा के आदर्श को पसन्द करके उस दिशा मे प्रगति करने की इच्छावाले गृहस्थ साधक अपनी-अपनी शक्ति एव रुचि के अनुसार उन उनचास प्रकारो मे से किसी-न-किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य का नियम ले सके वैसी विविध प्रतिज्ञाएँ जैन शास्त्रो मे आती हैं। इस प्रकार वास्तविक और आदर्श ब्रह्मचर्य मे भेद न होने पर भी व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से उसके स्वरूप की विविधता का जैनशास्त्रों मे अतिविस्तारपूर्वक वर्णन आता है।

सर्वब्रह्मचर्य नौ प्रकार का ब्रह्मचर्य है और देशब्रह्मचर्य आंशिक ब्रह्मचर्य

है। उसका अधिक स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार है : मन, वचन और शरीर इनमें से प्रत्येक के द्वारा सेवन न करना, सेवन न कराना और सेवन करनेवाले को अनुमति न देना—इस नौ कोटि से सर्वब्रह्मचारी कामाचार का त्याग करता है। साधु अथवा साध्वी तो ससार का त्याग करते ही इन नौ कोटियों से पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम लेते है और गृहस्थ भी इसका अधिकारी हो सकता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की इन नौ कोटियो के अतिरिक्त इनमे से प्रत्येक कोटि को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की भी मर्यादा होती है। वह प्रत्येक मर्यादा क्रमश इस प्रकार है किसी भी सजीव अथवा निर्जीव आकृति के साथ नौ कोटि से कामाचार का निषेध द्रव्यमर्यादा है। ऊर्ध्वलोक, अधोलोक तथा तिर्यग्लोक इन तीनो मे नौ कोटि से कामाचार का त्याग क्षेत्रमर्यादा है। दिन मे, रात्रि मे अथवा इस समय के किसी भी भाग मे इन्ही नौ कोटि से कामचार का निषेध कालमर्यादा है और राग अथवा द्वेष से अर्थात् माया, लोभ, द्वेष अथवा अहकार के भाव से कामाचार का नौ कोटि से त्याग भावमर्यादा है। आशिक ब्रह्मचर्य का अधिकारी गृहस्थ ही होता है। उसे अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व भी होता है और पशुपक्षी के पालन की भी चिन्ता होती है। उसे विवाह करने-कराने के तथा पशु-पक्षी को गर्भाधान कराने के प्रसग आते ही रहते है। इसीलिए गृहस्थ इन नौ कोटियो के साथ ब्रह्मचर्य का पालन बहुत विरल रूप से ही कर सकता है। आगे जो नौ कोटियाँ कही है उनमे से मन, वचन और शरीर से अनुमति देने की तीन कोटि उसके लिए नही होती, अर्थात् उसका उत्तम ब्रह्मचर्य अवशिष्ट छ कोटि से लिया हुआ होता है। आशिक ब्रह्मचर्य लेने की छः पद्धतियाँ ये है—

(१) द्विविध त्रिविध से, (२) द्विविध द्विविध से, (३) द्विविध एकविध से, (४) एकविध त्रिविध से, (५) एकविध द्विविध से, (६) एकविध एकविध से। इनमे से कोई एक प्रकार गृहस्थ अपनी शक्ति के अनुसार ब्रह्मचर्य के लिए स्वीकार करता है। द्विविध से अर्थात् करना और कराना इस अपेक्षा से और त्रिविध यानी मन, वचन और शरीर से; अर्थात् मन से करने-कराने का त्याग, वचन से करने-कराने का त्याग

और शरीर से करने-कराने का त्याग। यह प्रथम पद्धति है। इसी प्रकार इतर सब पद्धतियों के बारे मे समझ लेना।

६. ब्रह्मचर्य के अतिचार

किसी भी प्रतिज्ञा के चार दूषण होते हैं। उनमे लौकिक दृष्टि से दूषितता का तारतम्य माना गया है। वे चारो प्रतिज्ञा के घातक तो हैं ही, परन्तु व्यवहार तो प्रतिज्ञा के दृश्य घात को ही घात मानता है। इन चार के नाम तथा स्वरूप इस प्रकार है—

(१) प्रतिज्ञा का अतिक्रम करना अर्थात् प्रतिज्ञा के भग का मानसिक सकल्प करना।

(२) प्रतिज्ञा का व्यतिक्रम करना अर्थात् वैसे सकल्प की सहायक सामग्री को जुटाने की योजना करना।

ये दोनो दूषणरूप होने पर भी व्यवहार इन दोनों को क्षम्य गिनता है, अर्थात् मनुष्य की अपूर्ण भूमिका तथा उसके आसपास के वातावरण को देखते हुए ये दोनो दोष चला लिए जा सकते हैं।

(३) परन्तु जिस प्रवृत्ति के कारण व्यवहार मे भी ली हुई प्रतिज्ञा का आशिक भग माना जाय, अर्थात् जिस प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य का बर्ताव व्यवहार मे दूषित माना जाय वैसी प्रवृत्ति त्याज्य मानी गई है। वैसी प्रवृत्ति का ही नाम अतिचार अथवा दोष है। यह तीसरा दोष माना जाता है।

(४) अनाचार अर्थात् प्रतिज्ञा का सर्वथा नाश। यह महादोष है।

शास्त्रकार कहते है कि गृहस्थ के शील के पाँच अतिचार हैं: (१) इत्वरपरिगृहीतागमन, (२) अपरिगृहीतागमन, (३) अनगक्रीडा, (४) परविवाहकरण, (५) कामभोगो मे तीव्र अभिलाषा।

ये पाँचो प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्वदारसन्तोषी गृहस्थ के शील के लिए दूषणरूप हैं। कोई भी गृहस्थ स्वदारसन्तोष व्रत के प्रति पूर्ण रूप से वफादार रहे, तो इन पाँचो मे से एक भी प्रवृत्ति का वह कभी आचरण नही कर सकता।

७. ब्रह्मचर्य की निरपवादता

अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि महाव्रत सापवाद हैं, परन्तु मात्र एक ब्रह्मचर्य ही निरपवाद है। अहिंसा व्रत सापवाद है, अर्थात् सर्व प्रकार से

अहिंसा का पालक किसी खास विशिष्ट लाभ के उद्देश्य से हिंसा की प्रवृत्ति करे तो भी उसके व्रत का भग नही माना जाता। कई प्रसंग ही ऐसे हैं, जिनके कारण वह अहिंसक हिंसा न करे या हिंसा में प्रवृत्त न हो तो उसे विराधक माना है।[1] विराधक यानी जैन आज्ञा का लोपक । ऐसी ही स्थिति सत्यव्रत और अस्तेय आदि व्रतों मे भी घटाई जाती है । परन्तु ब्रह्मचर्य मे तो ऐसा एक भी अपवाद नही है। जिसने जिस प्रकार का ब्रह्मचर्य स्वीकार किया हो वह उसका निरपवाद रूप से वैसा ही आचरण करे।

दूसरे के आध्यात्मिक हित की दृष्टि लक्ष्य मे रखकर अहिंसादि का अपवाद करनेवाला तटस्थ या वीतराग रह सकता है, ब्रह्मचर्य के अपवाद में एसा सम्भव ही नही है। वैसा प्रसग तो राग, द्वेष एव मोह के ही अधीन है। इसके अतिरिक्त वैसा कामाचार का प्रसग किसी के आध्यात्मिक हित के लिए भी सम्भव नही हो सकता। इसी वजह से ब्रह्मचर्य के पालन का निरपवाद विधान किया गया है और उसके लिए प्रत्येक प्रकार के उपाय भी बतलाये गये है। ब्रह्मचर्य का भंग करनेवाले के लिए प्रायश्चित्त तो कठोर है ही, परन्तु उसमे भी जो जितने ऊँचे पद पर रहकर ब्रह्मचर्य की विराधना करता है उसके लिए उसके पद के अनुसार तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम प्रायश्चित्त कहा है, जैसे कि–कोई साधारण क्षुल्लक साधु अज्ञान और मोहवश ब्रह्मचर्य की विराधना करे तो उसका प्रायश्चित्त उसके क्षुल्लक अधिकार के अनुसार निश्चित किया है, परन्तु कोई गीतार्थ (सिद्धान्त का पारगामी और सर्वमान्य) आचार्य वैसी भूल करे तो उसका प्रायश्चित्त उस क्षुल्लक साधु की अपेक्षा अनेकगुना अधिक कहा गया है। लोगों में भी यही न्याय प्रचलित है। कोई एकदम सामान्य मनुष्य ऐसी भूल करे तो समाज उस तरफ़ लगभग उदासीन-सा रहता है, परन्तु कोई कुलीन और आदर्श कोटि का मनुष्य ऐसे प्रसग पर साधारण-सी भूल भी करे तो समाज उसे कभी सहन नही करता।[2]

(द०अ०चि०भा०१,पृ०५०७-५१५, ५१७-५२१, ५२४-५२७,५३३-५३४)

---

१. तिलकाचार्यकृत जीतकल्पवृत्ति पृ० ३५-३६ ।

२. इस लेख के सहलेखक प. श्री बेचरदास दोशी भी हैं।

आवश्यक क्रिया

वैदिकसमाज मे 'सन्ध्या' का, पारसी लोगों मे 'खोरदेह अवस्ता' का, यहूदी तथा ईसाइयो मे 'प्रार्थना' का और मुसलमानो मे 'नमाज' का जैसा महत्त्व है, जैन समाज मे वैसा ही महत्त्व 'आवश्यक' का है।

साधुओ को तो सुबह-शाम अनिवार्य रूप मे 'आवश्यक' करना ही पडता है, क्योकि शास्त्र मे ऐसी आज्ञा है कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु 'आवश्यक' नियम से करे। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करे तो साधु-पद के अधिकारी ही नही समझे जा सकते।

श्रावको मे 'आवश्यक' का प्रचार वैकल्पिक है। अर्थात् जो भावुक और नियमवाले होते है, वे अवश्य करते है और अन्य श्रावको की प्रवृत्ति इस विषय मे ऐच्छिक है। फिर भी यह देखा जाता है कि जो नित्य 'आवश्यक' नही करता, वह भी पक्ष के बाद, चतुर्मास के बाद या आखिरकार सवत्सर के बाद उसको यथासम्भव अवश्य करता है।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मे 'आवश्यक-क्रिया' का इतना आदर है कि जो व्यक्ति अन्य किसी समय धर्मस्थान मे न जाता हो वह तथा छोटे-बडे बालक-बालिकाएँ भी बहुधा सावत्सरिक पर्व के दिन धर्मस्थान मे 'आवश्यक-क्रिया' करने के लिए एकत्र हो ही जाते है और उस क्रिया को करके सभी अपना अहोभाग्य समझते है। इस प्रवृत्ति मे यह स्पष्ट है कि 'आवश्यक-क्रिया' का महत्त्व श्वेताम्बर-सम्प्रदाय मे कितना अधिक है। इसी सबब से सभी लोग अपनी सन्तति को धार्मिक शिक्षा देते समय सबमे पहिले 'आवश्यक-क्रिया' सिखाते हैं।

'आवश्यक-क्रिया' किसे कहते हैं? सामायिक आदि प्रत्येक 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है? उनके भेद-क्रम की उपपत्ति क्या है? 'आवश्यक-क्रिया'

आध्यात्मिक क्यो है? इत्यादि कुछ प्रश्नो के ऊपर विचार करना आवश्यक है।

'आवश्यक क्रिया' की प्राचीन विधि कहाँ सुरक्षित है ?

परन्तु इसके पहिले यहाँ एक बात बतला देना जरूरी है और वह यह है कि 'आवश्यक-क्रिया' करने की जो विधि चूर्णि के जमाने से भी बहुत प्राचीन थी और जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि जैसे प्रतिष्ठित आचार्य ने अपनी आवश्यक-वृत्ति पृ० ७९० मे किया है, वह विधि बहुत अशो मे अपरिवर्त्तित रूप से ज्यो की त्यो जैसी श्वेताम्बर-मूर्त्तिपूजक सम्प्रदाय म चली आती है, वैसी स्थानकवासी-सम्प्रदाय मे नहीं है। यह बात तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि गच्छो की सामाचारी देखने से स्पष्ट मालूम हो जाती है। स्थानकवासी-सम्प्रदाय की सामाचारी मे जिस प्रकार 'आवश्यक-क्रिया' मे बोले जानेवाले कई प्राचीन सूत्रो की, जैसे—पुक्खरवरदीवड्ढ, सिद्धाण बुद्धाण, अरिहतचेइयाण, आयरियउवज्झाए, अब्भुट्ठियोऽह इत्यादि की काट-छाट कर दी गई है, इसी प्रकार उसमे प्राचीन विधि की भी काट-छाट नजर आती है। इसके विपरीत तपागच्छ, खरतरगच्छ आदि की सामाचारी मे 'आवश्यक' के प्राचीन सूत्र तथा प्राचीन विधि मे कोई परिवर्तन किया हुआ नजर नही आता। अर्थात् उसमे 'सामाजिक-आवश्यक' से लेकर यानी प्रतिक्रमण की स्थापना से लेकर 'प्रत्याख्यान' पर्यन्त के छहों 'आवश्यक' के सूत्रो का तथा बीच मे विधि करने का सिलसिला बहुधा वही है, जिसका उल्लेख श्रीहरिभद्रसूरि ने किया है।

'आवश्यक' किसे कहते है ?

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसी को 'आवश्यक' कहते है। 'आवश्यक-क्रिया' सब के लिए एक नही, वह अधिकारी-भेद से जुदी-जुदी है। इसलिए 'आवश्यक-क्रिया' का स्वरूप लिखने के पहले यह बतला देना जरूरी है कि इस जगह किस प्रकार के अधिकारियो का आवश्यक-कर्म विचारा जाता है।

सामान्यरूप से शरीर-धारी प्राणियो के दो विभाग है (१) बहिर्दृष्टि, और (२) अन्तर्दृष्टि। जो अन्तर्दृष्टि है—जिनकी दृष्टि आत्मा

की ओर झुकी है अर्थात् जो सहज सुख को व्यक्त करने के विचार में तथा प्रयत्न में लगे हुए हैं, उन्ही के 'आवश्यक-कर्म' का विचार इस जगह करना है। इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि जो जड में अपने को नहीं भूले हैं—जिनकी दृष्टि को किसी भी जड़ वस्तु का सौन्दर्य लुभा नही सकता—उनका 'आवश्यक-कर्म' वही हो सकता है, जिसके द्वारा उनकी आत्मा सहज सुख का अनुभव कर सके। अन्तदृष्टिवाली आत्मा सहज सुख का अनुभव तभी कर सकती है, जबकि उसके सम्यक्त्व, चेतना, चारित्र आदि गुण व्यक्त हो। इसलिए वह उस क्रिया को अपना 'आवश्यक-कर्म' समझती है, जो सम्यक्त्व आदि गुणों का विकास करने मे सहायक हो। अतएव इस जगह सक्षेप मे 'आवश्यक' की व्याख्या इतनी ही है कि ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने के लिए जो क्रिया अवश्य करने के योग्य है, वही 'आवश्यक' है।

ऐसा 'आवश्यक' ज्ञान और क्रिया—उभय परिणामरूप अर्थात् उपयोगपूर्वक की जानेवाली क्रिया है। यही कर्म आत्मा को गुणों से वासित करानेवाला होने के कारण 'आवश्यक' भी कहलाता है। वैदिकदर्शन मे 'आवश्यक' समझे जानेवाले कर्मो के लिए 'नित्यकर्म' शब्द प्रसिद्ध है। जैनदर्शन में 'अवश्य-कर्तव्य' 'ध्रुव', निग्रह, विशोधि, अध्ययनषट्क, वर्ग, न्याय, आराधना, मार्ग आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जो कि आवश्यक' शब्द के समानार्थक—पर्याय है।[1]

आवश्यक का स्वरूप

स्थूल दृष्टि से 'आवश्यक-क्रिया' के छः विभाग अर्थात् भेद किये गए हैं—(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग, और (६) प्रत्याख्यान।

(१) **सामायिक**—राग और द्वेष के वश न होकर समभाव—मध्यस्थभाव मे रहना अर्थात् सबके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना 'सामायिक' है।[2] इसके (१) सम्यक्त्वसामायिक, (२) श्रुतसामायिक, और (३) चारित्रसामायिक, ये तीन भेद हैं, क्योकि सम्यक्त्व द्वारा, श्रुत

१. आवश्यकवृत्ति पृ० ५३।

२. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १०३२।

द्वारा या चारित्र द्वारा ही समभाव में स्थिर रहा जा सकता है। चारित्र-सामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से (१) देश और (२) सर्व, यों दो प्रकार का है। देश सामायिक-चारित्र गृहस्थो को और सर्वसामायिक-चारित्र साधुओ को होता है।[१] समता, सम्यक्त्व, शान्ति, सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं।[२]

(२) **चतुर्विंशतिस्तव**—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुणसम्पन्न आदर्श है, उनकी स्तुति करने रूप है। इसके (१) द्रव्य और (२) भाव, ये दो भेद है। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना 'द्रव्यस्तव' और उनके वास्तविक गुणो का कीर्तन करना 'भावस्तव, है।[३] अधिकारी-विशेष गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव कितना लाभदायक है, इस बात को विस्तारपूर्वक आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० (४९२-४९३) मे दिखाया है।

(३) **वंदन**—मन, वचन शरीर का वह व्यापार वदन है, जिससे पूज्यों के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। शास्त्र मे वदन के चिति-कर्म, कृति-कर्म, पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध है।[४] वदन के यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वद्य कैसे होने चाहिए ? वे कितने प्रकार के है ? कौन-कौन अवद्य हैं ? अवंद्य-वदन से क्या दोष है ? वंदन करते समय किन-किन दोषों का परिहार करना चाहिए, इत्यादि बातें जानने योग्य हैं।

द्रव्य और भाव, उभय चारित्रसम्पन्न मुनि ही वन्द्य है।[५] वन्द्य मुनि (१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर और (५) रत्नाधिक रूप से पाँच प्रकार के हैं।[६] जो द्रव्यलिङ्ग और भाव-लिङ्ग एक-एक से या दोनों से रहित है, वह अवन्द्य है। अवन्दनीय तथा वन्दनीय के सबन्ध में सिक्के की चतुर्भङ्गी प्रसिद्ध है।[७] जैसे चाँदी शुद्ध हो

१. वही गाथा ७९६।
२. वही गाथा १०३३।
३. आवश्यकवृत्ति पृ० ४९२।
४. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ११०३।
५. वही गाथा ११०६।
६. वही गाथा ११९५।
७. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ११३८।

पर मोहर ठीक न लगी हो तो वह सिक्का ग्राह्य नही होता, वैसे ही जो भावलिंगयुक्त हैं, पर द्रव्यलिंगविहीन हैं, उन प्रत्येकबुद्ध आदि को वन्दन नही किया जाता। जिस सिक्के पर मोहर तो ठीक लगी है, पर चाँदी अशुद्ध है, वह सिक्का ग्राह्य नही होता। वैसे ही द्रव्यलिंगधारी होकर जो भावलिंगविहीन है वे पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के कुसाधु अवन्दनीय है। जिस सिक्के की चाँदी और मोहर, ये दोनो ठीक नही है, वह भी अग्राह्य है। इसी तरह जो द्रव्य और भाव उभयलिंगरहित हैं वे वन्दनीय नही। वन्दनीय सिर्फ वे ही हैं, जो शुद्ध चाँदी तथा शुद्ध मोहरवाले सिक्के के समान द्रव्य और भाव—उभयलिंग सम्पन्न हैं।[1]

अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को न तो कर्म की निर्जरा होती है और न कीर्त्ति ही, बल्कि असयम आदि दोषो के अनुमोदन द्वारा कर्मबंध होता है।[2] अवन्द्य को वन्दन करने से वन्दन करनेवाले को ही दोष होता है, यही बात नही, किंतु अवन्दनीय की आत्मा का भी गुणी पुरुषों के द्वारा अपने को वन्दन कराने रूप असयम की वृद्धि द्वारा अध पात होता है।[3] वन्दन बत्तीस दोषो से रहित होना चाहिए। अनादृत आदि वे बत्तीस दोष आवश्यकनिर्युक्ति, गा० १२०७-१२११ मे बतलाए है।

(४) **प्रतिक्रमण-प्रमादवश** शुभ योग से गिरकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करना, यह 'प्रतिक्रमण'[4] है। तथा अशुभ योग को छोडकर उत्तरोत्तर शुभ योग मे बर्तना, यह भी 'प्रतिक्रमण है।[5] प्रतिवरण, परिहरण, करण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधि, ये सब

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ११३८।

२. वही गाथा ११०८।

३. वही गाथा १११०।

४. स्वस्थानाद्यत्परस्थान प्रमादस्य वशाद्गत।
तत्रैव क्रमण भूय. प्रतिक्रमणमुच्यते ॥१॥—आवश्यकसूत्र पृ० ५५३

५. प्रतिवर्तन वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेय प्रतिक्रमणम् ॥१॥
—आवश्यकसूत्र, पृ० ५५३।

प्रतिक्रमण के समानार्थक शब्द हैं ।[1] इन शब्दो का भाव समझाने के लिए प्रत्येक शब्द की व्याख्या पर एक-एक दृष्टान्त दिया गया है, जो बहुत मनोरंजक है ।[2] प्रतिक्रमण का मतलब पीछे लौटना है—एक स्थिति में जाकर फिर मूल स्थिति को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है ।

(१) दैवसिक, (२) रात्रिक, (३) पाक्षिक, (४) चातुर्मासिक और (५)—सावत्सरिक, ये प्रतिक्रमण के पाँच भेद बहुत प्राचीन तथा शास्त्रसमत हैं; क्योकि इनका उल्लेख श्री भद्रबाहुस्वामी भी करते हैं ।[3] कालभेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण भी बतलाया है.—(१) भूतकाल में लगे हुए दोषो की आलोचना करना, (२) सवर करके वर्तमान काल के दोषो से बचना, और (३) प्रत्याख्यान द्वारा भविष्यके दोषों को रोकना प्रतिक्रमण है ।[4]

उत्तरोत्तर आत्मा के विशेष शुद्ध स्वरूप मे स्थित होने की इच्छा करने-वाले अधिकारियो को यह भी जानना चाहिये कि प्रतिक्रमण किस-किस का करना चाहिए ।

(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) कषाय और (४) अप्रशस्त योग—इन चार का प्रतिक्रमण करना चाहिए । अर्थात् मिथ्यात्व छोड़कर सम्यक्त्व को पाना चाहिए, अविरति का त्याग कर विरति को स्वीकार करना चाहिये, कषाय का परिहार करके क्षमा आदि गुणप्राप्त करने चाहिये और ससार बढानेवाले व्यापारो को छोड़कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिए ।

सामान्य रीति से प्रतिक्रमण (१) द्रव्य और (२) भाव, यो दो प्रकार का है । भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है, द्रव्यप्रतिक्रमण नही । द्रव्य-प्रतिक्रमण वह है, जो दिखावे के लिए किया जाता है । दोष का प्रतिक्रमण करने के बाद भी फिर से उस दोष को बार-बार सेवन करना, यह द्रव्य प्रतिक्रमण है । इससे आत्मा शुद्ध होने के बदले ढिठाई द्वारा और भी

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२३३ ।
२. वही, गाथा १२४२ ।
३. वही, गाथा १२४७ ।
४. आवश्यकवृत्ति पृ० ५५१ ।

दोषों की पुष्टि होती है। इस पर कुम्हार के बर्त्तनों को कंकर द्वारा बार-बार फोड़कर बार-बार माफी माँगनेवाले एक क्षुल्लक-साधु का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

(५) **कायोत्सर्ग**—धर्म या शुक्ल-ध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर पर से ममता का त्याग करना 'कायोत्सर्ग' है। कायोत्सर्ग को यथार्थ रूप में करने के लिए इसके दोषों का परिहार करना चाहिए। वे घोटक आदि दोष सक्षेप में उन्नीस हैं।[1]

कायोत्सर्ग से देह की और बुद्धि की जडता दूर होती है, अर्थात् वात आदि धातुओं की विषमता दूर होती है और बुद्धि की मन्दता दूर होकर विचारशक्ति का विकास होता है। सुख-दुःख की तितिक्षा अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल दोनो प्रकार के सयोगो मे समभाव से रहने की शक्ति कायोत्सर्ग से प्रकट होती है। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अतिचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग मे ठीक-ठीक हो सकता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है। कायोत्सर्ग के अन्दर लिये जानेवाले एक श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण श्लोक के एक पाद के उच्चारण के काल-परिमाण जितना कहा गया है।

(६) **प्रत्याख्यान**—त्याग करने को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। त्यागने योग्य वस्तुएँ (१) द्रव्य और (२) भावरूप मे दो प्रकार की है। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुएँ द्रव्यरूप हैं और अज्ञान, असयम आदि वैभाविक परिणाम भावरूप हैं। अन्न, वस्त्र आदि बाह्य वस्तुओं का त्याग अज्ञान, असंयम आदि के त्याग द्वारा भावत्यागपूर्वक और भावत्याग के उद्देश्य से ही होना चाहिए। जो द्रव्यत्याग भावत्यागपूर्वक तथा भावत्याग के लिए नही किया जाता, उस से आत्मा को गुण-प्राप्ति नही होती।

(१) श्रद्धान, (२) ज्ञान, (३) वदन, (४) अनुपालन, (५) अनुभाषण और (६) भाव, इन छः शुद्धियो के सहित किया जानेवाला प्रत्याख्यान शुद्ध प्रत्याख्यान है।[2]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १५४६, १५४७।

२. आवश्यक वृत्ति पृ० ८४७।

प्रत्याख्यान का दूसरा नाम गुण-धारण है, सो इसलिए कि उससे अनेक गुण प्राप्त होते हैं। प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध अर्थात् सवर होता है। सवर से तृष्णा का नाश, तृष्णा के नाश से निरुपम समभाव और ऐसे समभाव से क्रमश मोक्ष का लाभ होता है।

क्रम की स्वभाविकता तथा उपपत्ति

जो अन्तर्दृष्टिवाले हैं, उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव-सामायिक प्राप्त करना है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार मे समभाव का दर्शन होता है। अन्तर्दृष्टिवाले जब किसी को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए जानते हैं, तब वे उनके वास्तविक गुणो की स्तुति करने लगते हैं। इस तरह वे समभाव-स्थित साधु पुरुषो को वन्दन-नमस्कार करना भी नही भूलते। अन्तर्दृष्टिवालो के जीवन मे ऐसी स्फूर्ति—अप्रमत्तता होती है कि कदाचित् वे पूर्ववासनावश या कुसंसर्गवश समभाव से गिर जाएँ, तब भी उस अप्रमत्तता के कारण प्रतिक्रमण करके वे अपनी पूर्व-प्राप्त स्थिति को फिर पा लेते हैं और कभी-कभी तो पूर्व-स्थिति से आगे भी बढ जाते हैं। ध्यान ही आध्यात्मिक जीवन के विकास की कुजी है। इसके लिए अन्तर्दृष्टिवाले बार-बार ध्यान—कायोत्सर्ग किया करते है। ध्यान द्वारा चित्तशुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप मे विशेषतया लीन हो जाते है। अतएव जड वस्तुओ के भोग का परित्याग—प्रत्याख्यान भी उनके लिए साहजिक क्रिया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि आध्यात्मिक पुरुषो के उच्च तथा स्वाभाविक जीवन का पृथक्करण ही 'आवश्यक-क्रिया' के क्रम का आधार है।

'आवश्यक-क्रिया' की आध्यात्मिकता

जो क्रिया आत्मा के विकास को लक्ष्य मे रखकर की जाती है, वही आध्यात्मिक क्रिया है। आत्मा के विकास का मतलब उसके सम्यक्त्व, चेतन, चारित्र आदि गुणो की क्रमश शुद्धि करने से है। इस कसौटी पर कसने से यह अभ्रान्त रीति से सिद्ध होता है कि 'सामायिक' आदि छहो 'आव-

श्यक' आध्यात्मिक हैं, क्योकि सामायिक का फल पापजनक व्यापार की निवृत्ति है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का कारण है।

चतुर्विंशतिस्तव का उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुण प्राप्त करना है, जो कि कर्म-निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन है।

वन्दन-क्रिया के द्वारा विनय की प्राप्ति होती है, मान खण्डित होता है, गुरुजन की पूजा होती है, तीर्थंकरो की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है, जो कि अन्त मे आत्मा के क्रमिक विकास द्वारा मोक्ष के कारण होते है। वन्दन करनेवालो को नम्रता के कारण शास्त्र सुनने का अवसर मिलता है। शास्त्र-श्रवण द्वारा क्रमश ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, सयम, अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया और सिद्धि ये फल बतलाए गए है।[1] इसलिए वन्दन-क्रिया आत्मा के विकास का असदिग्ध कारण है।

आत्मा वस्तुत पूर्ण शुद्ध और पूर्ण बलवान है, पर वह विविध वासनाओं के अनादि प्रवाह मे पडने के कारण दोषो की अनेक तहो से दब-सा गया है, इसलिए जब वह ऊपर उठने का प्रयत्न करता है, तब उसमे अनादि अभ्यास-वश भूले हो जाना सहज है। वह जब-तब उन भूलो का सशोधन न करे, तब तक इष्ट सिद्धि हो ही नही सकती। इसलिए पद-पद पर की हुई भूलो को याद करके प्रतिक्रमण द्वारा फिर से उन्हे न करने के लिए वह निश्चय कर लेता है। इस तरह से प्रतिक्रमण-क्रिया का उद्देश्य पूर्व दोषो को दूर करना और फिर से वैसे दोषो को न करने के लिए सावधान कर देना है, जिससे कि आत्मा दोषमुक्त होकर धीरे-धीरे अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाय। इसीसे प्रतिक्रमणक्रिया आध्यात्मिक है।

कायोत्सर्ग चित्त की एकाग्रता पैदा करता है और आत्मा को अपना स्वरूप विचारने का अवसर देता है, जिससे आत्मा निर्भय बनकर अपने कठिनतम उद्देश्य को सिद्ध कर सकती है। इसी कारण कायोत्सर्ग-क्रिया भी आध्यात्मिक है।

दुनिया मे जो कुछ है, वह सब न तो भोगा ही जा सकता है और न

१. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १२१५ तथा वृत्ति।

भोगने के योग्य ही है तथा वास्तविक शान्ति अपरिमित भोग से भी सम्भव नही है। इसलिए प्रत्याख्यान-क्रिया के द्वारा मुमुक्षुगण अपने को व्यर्थ के भोगों से बचाते हैं और उसके द्वारा चिरकालीन आत्मशान्ति पाते हैं। अतएव प्रत्याख्यान क्रिया भी आध्यात्मिक ही है।

प्रतिक्रमण शब्द की रूढ़ि

प्रतिक्रमण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रति+क्रमण=प्रतिक्रमण' ऐसी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ 'पीछे फिरना', इतना ही होता है, परन्तु रूढ़ि के बल से 'प्रतिक्रमण' शब्द सिर्फ चौथे 'आवश्यक' का तथा छह आवश्यक के समुदाय का भी बोध कराता है। अन्तिम अर्थ मे उस शब्द की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई है कि आजकल 'आवश्यक' शब्द का प्रयोग न करके सब कोई छहो आवश्यको के लिए 'प्रतिक्रमण' शब्द काम में लाते हैं। इस तरह व्यवहार मे और अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'प्रतिक्रमण' शब्द से 'आवश्यक' शब्द का पर्याय हो गया है। प्राचीन ग्रन्थो मे सामान्य 'आवश्यक' अर्थ मे 'प्रतिक्रमण' शब्द का प्रयोग कही देखने मे नही आया। 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भ, 'प्रतिक्रमणविधि', 'धर्मसग्रह' आदि अर्वाचीन ग्रन्थो मे 'प्रतिक्रमण' शब्द सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ मे प्रयुक्त है और सर्वसाधारण भी सामान्य 'आवश्यक' के अर्थ मे प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग अस्खलित रूप से करते हुए देखे जाते हैं।

(द० औ० चि० ख० २ पृ० १७४-१८५)

: ११ :

जीव और पंच परमेष्ठी का स्वरूप

प्र०—परमेष्ठी कौन कहलाते है ?

उ०—जो जीव परम मे अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप मे—समभाव मे ष्ठिन् अर्थात् स्थित हैं, वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं।

प्र०—परमेष्ठी और उनसे भिन्न जीवो मे क्या अन्तर है ?

उ०—अन्तर आध्यात्मिक विकास होने न होने का है। अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकासवाले व निर्मल आत्मशक्तिवाले हैं वे परमेष्ठी, और जो मलिन आत्मशक्ति वाले है वे उनसे भिन्न है।

प्र०—जो इस समय परमेष्ठी नही है, क्या वे भी साधनो द्वारा आत्मा को निर्मल बनाकर वैसे बन सकते है ?

उ०—अवश्य।

प्र०—तब तो जो परमेष्ठी नही है और जो हैं उनमे शक्ति की अपेक्षा से भेद क्या हुआ ?

उ०—कुछ भी नही। अन्तर सिर्फ शक्तियो के प्रकट होने-न होने का है। एक मे आत्मशक्तियो का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरो मे नही।

जीव के सम्बन्धमें कुछ विचारणा

जीव का सामान्य लक्षण

प्र०—जब असलियत मे सब जीव समान ही हैं, तब उन सबका सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है ?

उ०—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पौद्गलिक गुणो का न होना और चेतना का होना यह सब जीवो का सामान्य लक्षण है।

प्र०—उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय—इन्द्रियो से जाना नही जा सकने-वाला—है; फिर उसके द्वारा जीवो की पहिचान कैसे हो सकती है ?

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय हैं, इसलिए उनका लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए।

प्र०—जीव तो आँख आदि इन्द्रियो से जाने जा सकते हैं, फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे ?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दु ख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय हैं। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव पुद्गल-सापेक्ष होने के कारण इद्रियग्राह्य है। इसलिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए।

प्र०—अगर विभाव का सबन्ध जीव से है, तो उसको लेकर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए।

उ०—किया ही है, पर वह लक्षण सब जीवों का नही होगा, सिर्फ ससारी जीवो का होगा। जैसे जिनमे सुख-दु ख, राग-द्वेष आदि भाव हो या जो कर्म के कर्ता और कर्म-फल के भोक्ता और शरीरधारी हो वे जीव हैं।

प्र०—उक्त दोनो लक्षणो को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

उ०—प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इसलिए उसको निश्चय नय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिये। दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इसलिए उसको व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए। साराश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनो काल मे घटनेवाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनो काल मे नही घटनेवाला है। अर्थात् ससारदशा मे पाया जानेवाला और मोक्षदशा मे नहीं पाया जानेवाला है।

प्र०—उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन मे किये गए हैं, क्या वैसे जैनेतर दर्शनो मे भी हैं ?

उ०—हाँ, साङख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनो मे आत्मा को चेतन-रूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है, सो निश्चय नय की अपेक्षा से, और न्याय,

वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के लक्षण बतलाये हैं सो व्यवहारनय की अपेक्षा से।

प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनो शब्दो का मतलब एक है ?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र मे तो संसारी-असंसारी सभी चेतनो के विषय में 'जीव और आत्मा', इन दोनो शब्दो का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त आदि दर्शनों मे जीव का मतलब ससार-अवस्थावाले ही चेतन से है, मुक्त-चेतन से नही, और आत्मा शब्द तो साधारण है।

जीव के स्वरूप की अनिर्वचनीयता

प्र०—आपने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानो को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नही कहे जा सकने योग्य है, सो इसमे सत्य क्या है ?

उ०—उनका भी कथन युक्त है, क्योकि शब्दो के द्वारा परिमित भाव प्रगट किया जा सकता है। यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जानना हो तो वह अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नही बताया जा सकता। इसलिए इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय है। इस बात को जैसे अन्य दर्शनो मे 'निर्विकल्प' शब्द से या 'नेति' शब्दसे कहा है वैसे ही जैनदर्शन मे 'सरा तत्थ निवत्तते तक्का तत्थ न विज्जई' (आचाराङ्ग ५-६) इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से समझना चाहिए। और हमने जो जीव का चेतना या अमूर्त्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्ध पर्यायार्थिक नय से।

जीव स्वयंसिद्ध है या भौतिक मिश्रणों का परिणाम ?

प्र०—सुनने व पढ़ने मे आता है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणो का परिणाम है, वह कोई स्वयसिद्ध वस्तु नही है-वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इसमें क्या सत्य है ?

उ०—ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है, क्योकि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष-शोक आदि वृत्तियाँ, जो मन से संबन्ध रखती हैं, वे स्थूल या सूक्ष्म

भौतिक वस्तुओं के आलम्बन से होती हैं। भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियों के होने में साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण हैं, उपादानकारण नही। उनका उपादानकारण आत्मतत्त्व अलग ही है। इसलिए भौतिक वस्तुओ को उक्त वृत्तियों का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है। ऐसा न मानने में अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख, दुःख, राजा-रंकभाव, छोटी-बड़ी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानों मे पाए जाते हैं, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व बिना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नही सकता।

प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय मे अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करनेवाले निःस्वार्थ ऋषियो के वचन पर, तथा स्वानुभव पर। और चित्त को शुद्ध करके एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से ऐसा अनुभव प्राप्त हो सकता है।

पंच परमेष्ठी

पंच परमेष्ठी के प्रकार

प्र०—क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के हैं या उनमे कुछ अन्तर भी है?

उ०—सब एक प्रकार के नही होते। स्थूल दृष्टि से उनके अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच प्रकार है। स्थूलरूप से इनका अन्तर जानने के लिए इनके दो विभाग करने चाहिए। पहले विभाग में प्रथम दो और दूसरे विभाग मे पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित है, क्योकि अरिहन्त और सिद्ध ये दोनो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियों को शुद्ध रूप मे पूरे तौर से विकसित किये हुए होते है, पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियो को पूर्णतया प्रकट किए हुए नही होते, किन्तु उनको प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अरिहन्त और सिद्ध ये दो ही केवल पूज्य अवस्था को प्राप्त है, पूजक अवस्था को नही। इसीसे ये देवतत्त्व माने जाते हैं। इसके विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनों अव-

स्थाओं को प्राप्त है। वे अपने से नीचे की श्रेणिवालों के पूज्य और ऊपर की श्रेणिवालो के पूजक हैं। इसी से 'गुरु' तत्त्व माने जाते हैं।

अरिहन्त और सिद्ध का आपस में अन्तर

प्र०—अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस मे क्या अन्तर है ?

उ०—सिद्ध शरीररहित अतएव पौद्गलिक सब पर्यायो से परे होते हैं, पर अरिहन्त ऐसे नही होते । उनके शरीर होता है, इसलिए मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी ये चलने, फिरने, बोलने आदि शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते है।

साराश यह है कि ज्ञान-चारित्र आदि शक्तियो के विकास की पूर्णता अरिहन्त-सिद्ध दोनो मे बराबर होती है। पर सिद्ध योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं। जो पहिले अरिहन्त होते हैं वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते है।

आचार्य आदि का आपस में अन्तर

प्र०—आचार्य आदि तीनों का आपम मे क्या अन्तर है ?

उ०—इसी तरह (अरिहन्त और सिद्ध की भाँति) आचार्य, उपाध्याय और साधुओं मे साधु के गुण सामान्य रीति से समान होने पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य मे विशेषता होती है। वह यह कि उपाध्यायपद के लिए सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान, पढ़ाने की शक्ति, वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है, पर साधुपद के लिए इन गुणो की कोई खास जरूरत नही है। इसी तरह आचार्यपद के लिए शासन चलाने की शक्ति गच्छ के हिताहित की जवाबदेही, अति गम्भीरता और देश-काल का विशेष ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिए इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नही है। साधुपद के लिए जो सत्ताईस गुण जरूरी हैं वे तो आचार्य और उपाध्याय मे भी होते है, पर इनके अलावा उपाध्याय मे पच्चीस और आचार्य मे छत्तीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्यायपद का महत्त्व अधिक और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्व अधिक है।

अरिहन्त की अलौकिकता

जैसे अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उनकी बाह्य अवस्था मे भी क्या हम से कुछ विशेषता हो जाती है ?

उ०—अवश्य ! भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास भी नही कर सकते । अरिहन्त का सारा व्यवहार लोकोत्तर होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जाति के जीव अरिहन्त के उपदेश को अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म-शत्रु प्राणी भी समवसरण मे वैर-द्वेष-वृत्ति छोड़कर भ्रातृ-भाव धारण करते हैं। अरिहन्त के वचन मे जो पैंतीस गुण होते हैं वे औरों के वचन मे नही होते । जहाँ अरिहन्त विराजमान होते हैं वहाँ मनुष्य आदिकी कौन कहे, करोडो देव हाजिर होते, हाथ जोडे खडे रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ प्रातिहार्यों की रचना करते हैं। यह सब अरिहन्त के परम योग की विभूति है ।

प्र०—ऐसा मानने मे क्या युक्ति है ?

उ०—अपने को जो बाते असम्भव-सी मालूम होती हैं वे परमयोगियों के लिए साधारण हैं। एक जगली भील को चक्रवर्ती की सम्पत्ति का थोडा भी ख्याल नही आ सकता । हमारी और योगियो की योग्यता मे ही बडा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले और अस्थिरता के केन्द्र हैं। इसके विपरीत योगियो के सामने विषयो का आकर्षण कोई चीज नही; लालच उनको छूता तक नही, वे स्थिरता मे सुमेरु के समान होते हैं। हम थोडी देर के लिए भी मन को सर्वथा स्थिर नही रख सकते, किसी के कठोर-वाक्य को सुनकर मरने-मारने को तैयार हो जाते है, मामूली चीज गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं, स्वार्थान्धता से औरों की कौन कहे, भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम-योगी इन सब दोषो से सर्वथा अलग होते हैं। जब उनकी आन्तरिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने में कोई अचरज नही। साधारण योगसमाधि करनेवाले महात्माओ की और उच्च चरित्रवाले साधारण लोगो की भी महिमा जितनी देखी जाती है उस पर

विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति मे सदेह नही रहता।

व्यवहार एवं निश्चय-दृष्टि से पाँचों का स्वरूप

प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनो दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस-किस प्रकार का है ?

उ०—उक्त दोनो दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। उनके लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्योकि सिद्ध अवस्था मे निश्चय-व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के सबन्ध मे यह बात नही है। अरिहन्त सशरीर होते है, इसलिए उनका व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से सबन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तरिक शक्तियों के विकास से। इसलिए निश्चयदृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

प्र०—उक्त दोनो दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस-किस प्रकार का है ?

उ०—निश्चयदृष्टि से तीनो का स्वरूप एक-सा होता है। तीनो मे मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता और बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्चयिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोडा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सबसे अधिक होती है, क्योकि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैन शासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पडती है। उपाध्याय को आचार्य-पद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पडते हैं, जो सामान्य साधुओ मे नही भी होते।.

नमस्कार का हेतु व उसके प्रकार

प्र०—परमेष्ठियो को नमस्कार किसलिए किया जाता है ? नमस्कार के कितने प्रकार हैं ?

उ०—गुणप्राप्ति के लिए। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है, क्योकि जैसा ध्येय हो, ध्याता वैसा ही

बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करनेवाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नही बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करनेवाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है। बडो के प्रति ऐसा बर्त्ताव करना क जिससे उनके प्रति अपनी लघुता तथा उनका बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है। इसके द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं। विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार मे ऐसा भाव हो कि मै उपासना करनेवाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैत-नमस्कार है। रागद्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है, जिसमे आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है। इन दोनो मे अद्वैत-नमस्कार श्रेष्ठ है, क्योकि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधनमात्र है।

प्र०—मनुष्य की अन्तरग भावभक्ति के कितने भेद हैं ?

उ०—दो . एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योग-भक्ति। सिद्धों के अनन्त गुणो की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियो (मुनियो) के गुणो की भावना भाना योगि-भक्ति।

प्र०—पहिले अरिहन्तो को और पीछे सिद्धादिको को नमस्कार करने का क्या सबब है ?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते है। एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी। प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है। पाँचों परमेष्ठियो मे 'सिद्ध' सबसे प्रधान हैं और 'साधु' सबसे अप्रधान, क्योंकि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद है और साधु-अवस्था उसके साधन करने की प्रथम भूमिका है। इसलिए यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से नमस्कार किया गया है। यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से 'सिद्ध' श्रेष्ठ हैं, तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनो समान ही हैं और व्यवाहर की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं क्योंकि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलानेवाले 'अरिहन्त' ही तो

हैं। इसलिए व्यवहार-अपेक्षया 'अरिहन्तो' को श्रेष्ठ गिनकर पहिले उनको नमस्कार किया गया है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५२२-५३२)

देव, गुरु और धर्म तत्त्व

जैन परम्परा मे तात्त्विक धर्म तीन तत्त्वो मे समाविष्ट माना जाता है: देव, गुरु और धर्म। आत्मा की सम्पूर्ण निर्दोष अवस्था देवतत्त्व है, वैसी निर्दोषता प्राप्त करने की सच्ची आध्यात्मिक साधना गुरुतत्त्व है और सब प्रकार का विवेकी यथार्थ सयम धर्मतत्त्व है। इन तीन तत्त्वों को जैनत्व की आत्मा और इन तत्त्वो की सरक्षक एव पोषक भावना को उसका शरीर कहना चाहिए। देवतत्त्व को स्थूल रूप देनेवाला मन्दिर, उसमे रही हुई मूर्ति, उसकी पूजा-आरती, उस सस्था को निभानेवाले साधन, उसकी व्यवस्था करनेवाला तत्र, तीर्थस्थान—ये सब देवतत्त्व की पोषक भावनारूपी शरीर के वस्त्र और अलकार जैसे है। इसी प्रकार मकान, खाने-पीने और रहने आदि के नियम तथा दूसरे विधिविधान गुरुतत्त्व के शरीर के वस्त्र या अलकार है। अमुक चीज नही खाना, अमुक ही खाना, अमुक परिमाण मे खाना, अमुक समय पर नही खाना, अमुक स्थान पर अमुक ही हो सकता है, अमुक के प्रति अमुक ढँग से ही बरतना चाहिए इत्यादि विधि-निषेध के नियम सयमतत्त्व के वस्त्र अथवा गहने है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ५६)

: १२ :

कर्मतत्त्व

कर्मवादियो का ऐसा सिद्धान्त है कि जीवन केवल वर्तमान जन्म मे ही पूरा नही होता, वह तो पहले भी था और आगे भी चलता रहेगा। कोई भी अच्छा या बुरा, स्थूल या सूक्ष्म, शारीरिक या मानसिक परिणाम जीवन मे ऐसा उत्पन्न नही होता, जिसका बीज उस व्यक्ति ने वर्तमान अथवा पूर्वजन्म मे बोया न हो।

कर्मवाद की दीर्घ दृष्टि

ऐसा एक भी स्थूल या सूक्ष्म, मानसिक, वाचिक या कायिक कर्म नही है, जो इस या दूसरे जन्म मे परिणाम उत्पन्न किये बिना विलीन हो जाय। कर्मवादी की दृष्टि दीर्घ इसलिए है कि वह तीनो कालो का स्पर्श करती है, जबकि चार्वाक की दृष्टि दीर्घ नही है, क्योकि वह मात्र वर्तमान का स्पर्श करती है। कर्मवाद की इस दीर्घ दृष्टि के साथ उसके वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और विश्वीय उत्तरदायित्व तथा नैतिक बन्धनो मे, चार्वाक की अल्प दृष्टि मे से फलित होनेवाले उत्तरदायित्व और नैतिक बन्धनो की अपेक्षा, बहुत बडा अन्तर पड़ जाता है। यदि यह अन्तर बराबर समझ लिया जाय और उसका अश भी जीवन मे उतरे, तब तो कर्मवादियो का चार्वाक पर किया जाता आक्षेप सच्चा समझा जायगा और चार्वाक के धर्मध्येय की अपेक्षा कर्मवादी का धर्मध्येय उन्नत और ग्राह्य है ऐसा जीवनव्यवहार से बताया जा सकता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ५९)

शास्त्रो के अनादित्व की मान्यता

जैन वाङ्मय में इस समय जो श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र मौजूद हैं उनमे से प्राचीन माने जानेवाले कर्मविषयक ग्रन्थों का साक्षात्

संबन्ध दोनों परम्पराएं आग्रायणीय पूर्व के साथ बतलाती हैं। दोनो परम्पराएँ आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्गान्तर्गत चौदह पूर्वों मे से दूसरा पूर्व कहती हैं और दोनों श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराएँ समान रूप से मानती हैं कि सारे अङ्ग तथा चौदह पूर्व यह सब भगवान् महावीर की सर्वज्ञ वाणी का साक्षात् फल हैं। इस साम्प्रदायिक चिरकालीन मान्यता के अनुसार मौजूदा सारा कर्मविषयक जैन वाङमय शब्दरूप से नहीं तो अन्ततः भावरूप से भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा-प्राप्त सारमात्र है। इसी तरह यह भी साम्प्रदायिक मान्यता है कि वस्तुतः सारी अङ्गविद्याएँ भावरूप से केवल भगवान् महावीर की ही पूर्वकालीन नही, बल्कि पूर्व-पूर्व मे हुए अन्यान्य तीर्थङ्करो से भी पूर्वकाल की अतएव एक तरह मे अनादि हैं। प्रवाहरूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होनेवाले नव-नव तीर्थङ्करो के द्वारा वे पूर्व-पूर्व अङ्गविद्याएँ नवीन नवीनत्व धारण करती हैं। इसी मान्यता को प्रकट करते हुए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा में, नैयायिक जयन्त भट्ट का अनुकरण करके, बडी खूबी से कहा है कि—"अनादय एवैता विद्या सक्षेपविस्तरविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रौषी न कदाचिदनीदृश जगत्।" अनादिकालीन ये विद्याएँ सक्षेप अथवा विस्तारपूर्वक विवरण करने की इच्छा से नया-नया स्वरूप धारण करती हैं और विवरण करनेवाले की कृति रूप से पहिचानी जाती हैं। क्या ऐसा नही सुना कि दुनिया तो सदा से ऐसी ही चली आती है?

उक्त साम्प्रदायिक मान्यता ऐसी है कि जिसको साम्प्रदायिक लोग आज तक अक्षरश मानते आए हैं और उसका समर्थन भी वैसे ही करते आए हैं जैसे मीमासक लोग वेदो के अनादित्व की मान्यता का। साम्प्रदायिक लोगो मे पूर्वोक्त शास्त्रीय मान्यता का आदरणीय स्थान होने पर भी इस जगह कर्मशास्त्र और उसके मुख्य विषय कर्मतत्त्व के सबन्ध मे एक दूसरी दृष्टि से भी विचार करना प्राप्त है। वह दृष्टि है ऐतिहासिक।

कर्मतत्त्व की आवश्यकता क्यों?

पहिला प्रश्न कर्मतत्त्व मानना या नही और मानना तो किस आधार

पर, यह था। एक पक्ष ऐसा था जो काम और उसके साधनरूप अर्थ के सिवाय अन्य कोई पुरुषार्थ मानता न था। उसकी दृष्टि मे इहलोक ही पुरुषार्थ था। अतएव वह ऐसा कोई कर्मतत्त्व मानने के लिए बाधित न था, जो अच्छे-बुरे जन्मान्तर या परलोक की प्राप्ति करानेवाला हो। यही पक्ष चार्वाक परम्परा के नाम से विख्यात हुआ। पर साथ ही उस अति पुराने युग मे भी ऐसे चिंतक थे, जो बतलाते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नही, बल्कि इस दृश्यमान लोक के अलावा और भी श्रेष्ठ-कनिष्ठ लोक है। वे पुनर्जन्म और परलोकवादी कहलाते थे और वे ही पुनर्जन्म और परलोक के कारणरूप से कर्मतत्त्व को स्वीकार करते थे। उनकी दृष्टि यह रही कि अगर कर्म न हो तो जन्म-जन्मान्तर एव इहलोक-परलोक का सबन्ध घट ही नही सकता। अतएव पुनर्जन्म की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व का स्वीकार आवश्यक है। ये ही कर्मवादी अपने को परलोकवादी तथा आस्तिक कहते थे।

धर्म, अर्थ और काम को ही माननेवाले प्रवर्तक-धर्मवादी पक्ष

कर्मवादियों के मुख्य दो दल रहे। एक तो यह प्रतिपादित करता था कि कर्म का फल जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, पर श्रेष्ठ जन्म तथा श्रेष्ट परलोक के वास्ते कर्म भी श्रेष्ठ ही चाहिए। यह दल परलोकवादी होने से तथा श्रेष्ठलोक, जो स्वर्ग कहलाता है, उसके साधनरूप से धर्म का प्रतिपादन करनेवाला होने से, धर्म-अर्थ-काम ऐसे तीन ही पुरुषार्थो को मानता था। उसकी दृष्टि मे मोक्ष का अलग पुरुषार्थ रूप से स्थान न था। जहाँ कही प्रवर्तकधर्म का उल्लेख आता है, वह सब इसी त्रिपुरुषार्थवादी दल के मन्तव्य का सूचक है। इसका मन्तव्य सक्षेप मे यह है कि धर्म—शुभ कर्म का फल स्वर्ग और अधर्म—अशुभ कर्म का फल नरक आदि है। धर्माधर्म ही पुण्य-पाप तथा अदृष्ट कहलाते हैं और उन्ही के द्वारा जन्म-जन्मान्तर की चक्रप्रवृत्ति चला करती है, जिसका उच्छेद शक्य नही है। शक्य इतना ही है कि अगर अच्छा लोक और अधिक सुख पाना हो, तो धर्म ही कर्त्तव्य है। इस मत के अनुसार अधर्म या पाप तो हेय हैं, पर धर्म या पुण्य हेय नही। यह दल सामाजिक व्यवस्था का समर्थक था, अतएव वह समाजमान्य शिष्ट एवं

विहित आचरणों से धर्म की उत्पत्ति बतलाकर तथा निन्द्य आचरणों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर सब तरह की सामाजिक सुव्यवस्था का ही संकेत करता था । वही दल ब्राह्मणमार्ग, मीमासक और कर्मकाण्डी नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

मोक्षपुरुषार्थी निवर्तक-धर्मवादी पक्ष

कर्मवादियो का दूसरा दल उपर्युक्त दल से बिलकुल विरुद्ध दृष्टि रखने वाला था । यह मानता था कि पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है, शिष्ट-सम्मत एव विहित कर्मो के आचरण से धर्म उत्पन्न होकर स्वर्ग भी देता है, पर वह धर्म भी अधर्म की तरह ही सर्वथा हेय है । इसके मतानुसार एक चौथा स्वतन्त्र पुरुषार्थ भी है जो मोक्ष कहलाता है । इसका कथन है कि एकमात्र मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है और मोक्ष के वास्ते कर्ममात्र, चाहे वह पुण्यरूप हो या पापरूप, हेय है । यह नही कि कर्म का उच्छेद शक्य न हो । प्रयत्न से वह भी शक्य है । जहाँ कही निवर्तक-धर्म का उल्लेख आता है वहाँ सर्वत्र इसी मत का सूचक है । इसके मतानुसार जब आत्यन्तिक कर्म-निवृत्ति शक्य और इष्ट है तब इसे प्रथम दल की दृष्टि के विरुद्ध ही कर्म की उत्पत्ति का असली कारण बतलाना पडा । इसने कहा कि धर्म और अधर्म का मूल कारण प्रचलित सामाजिक विधि-निषेध नही, किन्तु अज्ञान और राग-द्वेष हैं । कैसा ही शिष्टसम्मत और विहित सामाजिक आचरण क्यो न हो, पर अगर वह अज्ञान एव रागद्वेषमूलक है तो उससे अधर्म की ही उत्पत्ति होती है । इसके मतानुसार पुण्य और पाप का भेद स्थूल दृष्टिवालो के लिए है । तत्त्वत. पुण्य और पाप अज्ञान एव राग-द्वेषमूलक होने से अधर्म एव हेय ही हैं । यह निवर्तक-धर्मवादी दल सामाजिक न होकर व्यक्ति-विकासवादी रहा ।

जब इसने कर्म का उच्छेद और मोक्ष पुरुषार्थ मान लिया तब इसे कर्म के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणो पर भी विचार करना पड़ा । इसी विचार के फलस्वरूप इसने जो कर्मनिवर्तक कारण स्थिर किये वही इस दल का निवर्तकधर्म है । प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की दिशा बिलकुल परस्पर विरुद्ध है । एक का ध्येय सामाजिक व्यवस्था की रक्षा और

सुव्यवस्था का निर्माण है, जबकि दूसरे का ध्येय निजी आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है, अतएव यह मात्र आत्मगामी है। निवर्तकधर्म ही श्रमण, परिव्राजक, तपस्वी और योगमार्ग आदि नामो से प्रसिद्ध है। कर्मप्रवृत्ति अज्ञान एवं राग-द्वेष जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति का उपाय अज्ञानविरोधी सम्यग्-ज्ञान और राग-द्वेषविरोधी रागद्वेषनाशरूप सयम ही स्थिर हुआ। बाकी के तप, ध्यान, भक्ति आदि सभी उपाय उक्त ज्ञान और संयम के ही साधनरूप से माने गए।

कर्मतत्त्व सम्बन्धी विचार और उसका ज्ञाता वर्ग

निवर्तक धर्मवादियो को मोक्ष के स्वरूप तथा उसके साधनो के विषय में तो ऊहापोह करना ही पडता था, पर इसके साथ उनको कर्मतत्त्वो के विषय मे भी बहुत विचार करना पडा। उन्होने कर्म तथा उसके भेदो की परिभाषाएँ एव व्याख्याएँ स्थिर की, कार्य और कारण की दृष्टि से कर्म-तत्त्व का विविध वर्गीकरण किया, कर्म की फलदान-शक्तियो का विवेचन किया, जुदे-जुदे विपाको की काल-मर्यादाएँ सोची, कर्मों के पारस्परिक सबध पर भी विचार किया। इस तरह निवर्तक धर्मवादियो का खासा कर्मतत्त्वविषयक शास्त्र व्यवस्थित हो गया और उसमे दिन प्रतिदिन नए-नए प्रश्नों और उनके उत्तरो के द्वारा अधिकाधिक विकास भी होता रहा। ये निवर्तकधर्मवादी जुदे-जुदे पक्ष अपने सुभीते के अनुसार जुदा-जुदा विचार करते रहे, पर जब तक इन सब का संमिलित ध्येय प्रवर्तक-धर्मवाद का खण्डन रहा तब तक उनमे विचार-विनिमय भी होता रहा और उनमे एकवाक्यता भी रही। यही सबब है कि न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, जैन और बौद्ध दर्शन के कर्मविषयक साहित्य मे परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि का शब्दश. और अर्थश साम्य बहुत-कुछ देखने मे आता है।

मोक्षवादियो के सामने एक जटिल समस्या पहले से यह थी कि एक तो पुराने बद्धकर्म ही अनन्त हैं, दूसरे उनका क्रमश. फल भोगने के समय प्रत्येक क्षण मे नए-नए भी कर्म बधते हैं, फिर इन सब कर्मों का सर्वथा उच्छेद कैसे संभव है? इस समस्या का हल भी मोक्षवादियो ने बड़ी खूबी से किया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में उस हल का वर्णन संक्षेप

का विस्तार से एक-सा पाते हैं। यह वस्तुस्थिति इतना सूचित करने के लिए पर्याप्त है कि कभी निवर्तकवादियो के भिन्न-भिन्न पक्षों मे खूब विचार-विनिमय होता था। यह सब कुछ होते हुए भी धीरे-धीरे ऐसा समय आ गया जब कि ये निवर्तकवादी पक्ष आपस मे प्रथम जितने नजदीक न रहे। फिर भी हरएक पक्ष कर्मतत्त्व के विषय मे ऊहापोह तो करता ही रहा। इस बीच मे ऐसा भी हुआ कि किसी निवर्तकवादी पक्ष मे एक खासा कर्मचिन्तक वर्ग ही स्थिर हो गया, जो मोक्षसबधी प्रश्नो की अपेक्षा कर्म के विषय में ही गहरा विचार करता था और प्रधानतया उसी का अध्ययन-अध्यापन करता था, जैसा कि अन्य-अन्य विषय के खास चिन्तकवर्ग अपने-अपने विषय में किया करते थे और आज भी करते हैं। वही मुख्यतया कर्मशास्त्र का चिन्तकवर्ग जैन दर्शन का कर्मशास्त्रानुयोगधर वर्ग या कर्मसिद्धान्तज्ञ वर्ग है।

कर्मतत्त्व के विचार की प्राचीनता और समानता

कर्म के बधक कारणो तथा उनके उच्छेदक उपायो के बारे में तो सब मोक्षवादी गौणमुख्यभाव से एकमत ही है, पर कर्मतत्त्व के स्वरूप के बारे में ऊपर निर्दिष्ट खास कर्मचिन्तक वर्ग का जो मन्तव्य है उसे जानना जरूरी है। परमाणुवादी मोक्षमार्गी वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतन-धर्म बतलाते थे, जब कि प्रधानवादी साख्य-योग उसे अन्त करण-स्थित मानकर जडधर्म बतलाते थे। परन्तु आत्मा और परमाणु को परिणामी माननेवाले जैन चिन्तक अपनी जुदी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड उभय के परिणाम रूप से उभयरूप मानते थे। इनके मतानुसार आत्मा चेतन होकर भी साख्य के प्राकृत अन्त करण की तरह सकोच-विकासशील था, जिसमे कर्मरूप विकार भी सभव है और जो जड परमाणुओं के साथ एकरस भी हो सकता है। वैशेषिक आदि के मतानुसार कर्म चेतनधर्म होने से वस्तुत. चेतन से जुदा नही और साख्य के अनुसार कर्म प्रकृति धर्म होने से वस्तुत. जड़ से जुदा नही, जब कि जैन चिन्तकों के मतानुसार कर्मतत्त्व चेतन और जड़ उभय रूप ही फलित होता है, जिसे वे भाव और द्रव्यकर्म भी कहते हैं।

यह सारी कर्मतत्त्व सबधी प्रक्रिया इतनी पुरानी तो अवश्य है जब कि

कर्मतत्त्व के चिन्तकों में परस्पर विचारविनिमय अधिकाधिक होता था। वह समय कितना पुराना है वह निश्चय रूप से तो कहा ही नहीं जा सकता, पर जैनदर्शन मे कर्मशास्त्र का जो चिरकाल से स्थान है, उस शास्त्र में जो विचारों की गहराई, शृखलाबद्धता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का असाधारण निरूपण है इसे ध्यान मे रखने से यह बिना माने काम नहीं चलता कि जैनदर्शन की विशिष्ट कर्मविद्या भगवान् पार्श्वनाथ के पहले अवश्य स्थिर हो चुकी थी। इसी विद्या के धारक कर्मशास्त्रज्ञ कहलाए और यही विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवाद पूर्व के नाम से विश्रुत हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वशब्द का मतलब भगवान महावीर के पहले से चला आनेवाला शास्त्रविशेष है। नि:सदेह ये पूर्व वस्तुत. भगवान पार्श्वनाथ के पहले से ही एक या दूसरे रूप मे प्रचलित रहे। एक ओर जैनचिन्तको ने कर्मतत्त्व के चिन्तन की ओर बहुत ध्यान दिया, जब कि दूसरी ओर साख्य-योग ने ध्यानमार्ग की ओर सविशेष ध्यान दिया। आगे जाकर जब तथागत बुद्ध हुए तब उन्होने भी ध्यान पर ही अधिक भार दिया। पर सबों ने विरासत मे मिले कर्मचिन्तन को अपना रखा। यही सबब है कि सूक्ष्मता और विस्तार मे जैन कर्मशास्त्र अपना असाधारण स्थान रखता है, फिर भी साख्य, योग, बौद्ध आदि दर्शनो के कर्मचिन्तनो के साथ उसका बहुत-कुछ साम्य है और मूल मे एकता भी है, जो कर्मशास्त्र के अभ्यासियों के लिए ज्ञातव्य है।

जैन तथा अन्य दर्शनों की ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व सम्बन्धी मान्यता

कर्मवाद का मानना यह है कि सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि जो अनेक अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उनके होने में काल, स्वभाव, पुरुषार्थ आदि अन्य-अन्य कारणो की तरह कर्म भी एक कारण है। परन्तु अन्य दर्शनो की तरह कर्मवाद-प्रधान जैन-दर्शन ईश्वर को उक्त अवस्थाओ का या सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नही मानता। दूसरे दर्शनो में किसी समय सृष्टि का उत्पन्न होना माना गया है, अतएव उनमें सृष्टि की उत्पत्ति के साथ किसी-न-किसी तरह का ईश्वर का सबन्ध जोड़ दिया गया है। न्यायदर्शन मे कहा है कि अच्छे-बुरे कर्म के फल ईश्वर की प्रेरणा से मिलते

हैं।[1] वैशेषिकदर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानकर, उसके स्वरूप का वर्णन किया है।[2] योगदर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम—जड़ जगत का फैलाव माना है।[3] श्री शङ्कराचार्य ने भी अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य मे, उपनिषद् के आधार पर जगह-जगह ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध किया है।[4]

परन्तु जीवो से फल भोगवाने के लिए जैन दर्शन ईश्वर को कर्म का प्रेरक नही मानता, क्योकि कर्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र हैं वैसे ही उसके फल को भोगने मे भी। कहा है कि —

'य· कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्मफलस्य च।
ससर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षण ॥१॥

इसी प्रकार जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का अधिष्ठाता भी नही मानता, क्योकि उसके मत से सृष्टि अनादि-अनन्त होने से वह कभी अपूर्व उत्पन्न नही हुई तथा वह स्वय ही परिणमनशील है, इसलिए ईश्वर के अधिष्ठान की अपेक्षा नही रखती।

ईश्वर सृष्टिकर्ता और कर्मफलदाता क्यों नहीं ?

यह जगत् किसी समय नया नही बना, वह सदा ही से है। हाँ, इसमें परिवर्तन हुआ करते हैं। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने मे मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते हैं कि जिनमे किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नही रहती। वे जड तत्त्वों के तरह-तरह के सयोगो से—उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियो से बनते रहते है। उदाहरणार्थ मिट्टी, पत्थर आदि चीजो के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड़ का बन जाना; इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी के रूप मे बहना; भाप का पानी के रूप मे बरसना

---

१. गौतमसूत्र अ० ४, आ० १, सू० १।
२. प्रशस्तपादभाष्य पृ० ४८।
३. समाधिपाद सू० २४ के भाष्य व टीका।
४. ब्रह्मसूत्र २-१-२६ का भाष्य; ब्रह्मसूत्र अ० २-३-६।

और फिर से पानी का भापरूप बन जाना इत्यादि। इसलिए ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नही है।

प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ हैं और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नही चाहते यह ठीक है, पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जीव के —चेतन—के सग से कर्म मे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिससे वह अपने अच्छे-बुरे विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नही मानता कि चेतन के सवन्ध के सिवाय ही जड़ कर्म भोग देने मे समर्थ है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिए ईश्वररूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई जरूरत नही, क्योकि सभी जीव चेतन हैं वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी ही बन जाती है, जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल को न चाहना दूसरी बात, केवल चाहना न होने ही से किए कर्म का फल मिलने से रुक नही सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ—एक मनुष्य धूप मे खड़ा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है कि प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? ईश्वरकर्तृत्ववादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना-अपना फल प्राणियो पर प्रकट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव में ऐसे सस्कार पड़ जाते हैं कि जिनसे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते है और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते है।

ईश्वर और जीव के बीच भेदाभेद

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमें अन्तर ही क्या है? हाँ, अन्तर इतना हो सकता है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणो से घिरी हुई हैं और ईश्वर की नही। पर जिस समय जीव अपने आवरणों को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप मे प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर मे विषमता किस बात की? विषमता का

कारण जो औपाधिक कर्म है। उसके हट जाने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विषमता का राज्य ससार तक ही परिमित है, आगे नही। इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं; केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए उचित नही।

अपने विघ्न का कारण स्वयं जीव ही

इस लोक से या परलोक से सबन्ध रखनेवाले किसी काम में जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी-न-किसी विघ्न का सामना करना न पडे। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिए कि चाहे मैं जान सकू या नही, लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझ मे ही होना चाहिए। जिस हृदय-भूमिका पर विघ्न-विषवृक्ष उगता है उसका बीज भी उसी भूमिका मे बोया हुआ होना चाहिए। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तो के समान उस विघ्न-वृक्ष को अकुरित होने मे कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नही— ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धिनेत्र को स्थिर कर देता है, जिससे वह अडचन के असली कारण को अपने मे देखकर न तो उसके लिए दूसरे को कोसता है और न घबड़ाता है।

कर्म-सिद्धान्त के विषय में डा० मेक्समूलर का अभिप्राय

कर्म के सिद्धान्त की श्रेष्ठता के संबन्ध मे डा० मेक्समूलर का जो विचार है वह जानने योग्य है। वे कहते हैं :—

"यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य-जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझ को जो-कुछ भोगना पड़ता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकानेवाले मनुष्य की तरह शान्त भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है, तो उसको भलाई के रास्ते पर

चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीतिशास्त्र का मत और पदार्थशास्त्र का बल-सरक्षण संबन्धी मत समान ही है। दोनों मतों का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता। किसी भी नीतिशिक्षा के अस्तित्व के सबन्ध में कितनी ही शङ्का क्यो न हो, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है, उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए हैं और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यजीवन को सुधारने में उत्तेजन मिला है।"

कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का अंश है

अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य आत्मा-सम्बन्धी विषयों पर विचार करना है। अतएव उसको आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के पहले उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी कथन करना पडता है। प्रश्न होता है कि दृश्यमान वर्तमान अवस्थाएँ ही आत्मा का स्वभाव क्यो नही हैं ? इस-लिए अध्यात्मशास्त्र को आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान स्वरूप ही उपपत्ति दिखाकर आगे बढे। यही काम कर्मशास्त्र ने किया है। वह दृश्यमान सब अवस्थाओ को कर्म-जन्य बतलाकर उनसे आत्मा के स्वभाव की जुदाई की सूचना करता है। इस दृष्टि मे कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का ही एक अश है।

जब यह ज्ञात हो जाता है कि ऊपर के सब रूप मायिक या वैभाविक हैं तब स्वयमेव जिज्ञासा होती है कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है ? कर्मशास्त्र कहता है कि आत्मा ही परमात्मा—जीव ही ईश्वर है। आत्मा का परमात्मा मे मिल जाना, इसका मतलब यह है कि आत्मा का अपने कर्मावृत परमात्मभाव को व्यक्त करके परमात्मरूप हो जाना। जीव पर-मात्मा का अश है, इसका मतलब कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में जितनी ज्ञान-कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण परन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतना-चन्द्रिका का एक अश मात्र है। कर्म का आवरण हट जाने से चेतना परिपूर्ण रूप मे प्रकट होती है। उसी को ईश्वरभाव या ईश्वरत्व की प्राप्ति समझना चाहिए।

धन, शरीर आदि बाह्य विभूतियो में आत्मबुद्धि करना, अर्थात् जड़ में

अहंत्व करना बाह्य दृष्टि है। इस अभेद-भ्रम को बहिरात्मभाव सिद्ध करके उसे छोडने की शिक्षा कर्म-शास्त्र देता है। जिनके सस्कार केवल बहिरात्म-भावमय हो गए है उन्हें कर्म-शास्त्र का उपदेश भले ही रुचिकर न हो, परन्तु इससे उसकी सच्चाई मे कुछ भी अन्तर नही पड सकता।

शरीर और आत्मा के अभेद-भ्रम को दूर करा कर, उस के भेद-ज्ञान को (विवेकख्याति को) कर्मशास्त्र प्रकटाता है। इसी समय से अन्तर्दृष्टि खुलती है। अन्तर्दृष्टि के द्वारा अपने मे वर्तमान परमात्मभाव देखा जाता है। परमात्मभाव को देखकर उसे पूर्णतया अनुभव मे लाना, यह जीव का शिव (ब्रह्म) होना है। इसी ब्रह्म-भाव को व्यक्त कराने का काम कुछ और ढग से ही कर्मशास्त्र ने अपने पर ले रखा है, क्योकि वह अभेद-भ्रम से भेद-ज्ञान की तरफ झुकाकर, फिर स्वाभाविक अभेदध्यान की उच्च भूमिका की ओर आत्मा को खीचता है। बस उसका कर्तव्य-क्षेत्र उतना ही है। साथ ही योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य अश का वर्णन भी उसमे मिल जाता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र अनेक प्रकार के आध्यात्मिक शास्त्रीय विचारो की खान है। यही उसका महत्त्व है। बहुत लोगो को प्रकृतियो की गिनती, सख्या की बहुलता आदि से उस पर रुचि नही होती, परन्तु इसमे कर्मशास्त्र का क्या दोष? गणित, पदार्थविज्ञान आदि गूढ व रसपूर्ण विषयो पर स्थूलदर्शी लोगो की दृष्टि नही जमती और उन्हे रस नही आता, इसमे उन विषयो का क्या दोष? दोष है समझनेवालो की बुद्धि का। किसी भी विषय के अभ्यासी को उस विषय मे रस तभी आता है जब कि वह उसमें तल तक उतर जाए।

कर्म शब्द का अर्थ और उसके कुछ पर्याय

जैन शास्त्र मे कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते हैं पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं, और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुए होते है और द्रव्य-कर्म कहलाते हैं।

जैन दर्शन मे जिस अर्थ के लिए कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उससे कुछ मिलते-जुलते अर्थ के लिए जैनेतर दर्शनों मे ये शब्द

मिलते हैं—माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव, भाग्य आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन शब्द वेदान्त दर्शन मे पाए जाते हैं। इनका मूल अर्थ करीब-करीब वही है, जिसे जैन-दर्शन मे भाव-कर्म कहते हैं। 'अपूर्व' शब्द मीमासादर्शन मे मिलता है। 'वासना' शब्द बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध है, परन्तु योगदर्शन मे भी उसका प्रयोग किया गया है। 'आशय' शब्द विशेष कर योग तथा साख्य दर्शन में मिलता है। धर्माधर्म, अदृष्ट और सस्कार, इन शब्दों का प्रयोग और दर्शनो मे भी पाया जाता है, परन्तु विशेषकर न्याय तथा वैशेषिक दर्शन मे। दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि कई ऐसे शब्द हैं जो सब दर्शनो के लिए साधारण-से हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं उनको पुनर्जन्म की सिद्धि—उपपत्ति के लिए कर्म मानना ही पड़ता है।

कर्म का स्वरूप

मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भावकर्म व द्रव्यकर्म दोनो में घटित होता है, क्योंकि भावकर्म आत्मा का या जीव का—वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मण-जाति के सूक्ष्म पुद्गलों का विकार है, उसका भी कर्त्ता, निमित्तरूप से, जीव ही है। भावकर्म के होने मे द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनों का आपस मे बीजाङ्कुर की तरह कार्यकारण भाव सबन्ध है।

पुण्य-पाप की कसौटी

साधारण लोग कहा करते हैं कि 'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बन्ध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा-विरुद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बन्ध होता है, परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नही है।

एक परोपकारी चिकित्सक जब किसी पर शस्त्र-क्रिया करता है तब

उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लड़के को जब उसकी इच्छा के विरुद्ध पढाने के लिए यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख-सा मालूम पड़ता है! पर इतने ही से न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करनेवाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते हैं। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगों को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान, पूजन आदि क्रियाओ को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बाँधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप-बन्ध की सच्ची कसौटी केवल ऊपर की क्रिया नही है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है।

यह पुण्य-पाप की कसौटी सब को एक-सी सम्मत है, क्योंकि यह सिद्धांत सर्वमान्य है कि—'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।'

सच्ची निर्लेपता; कर्म का बन्धन कब न हो ?

साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस काम को तो छोड देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नही कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है ? लेप (बन्ध) मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नही है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन मे रखने के लिए समर्थ नही है। इससे उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है, तो ऊपर से हज़ार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नही सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल में कमल की तरह निर्लेप रहते है, पर कषायवान् आत्मा योग का स्वाँग रचकर भी तिल-भर शुद्धि नही कर सकता। इसीसे यह कहा जाता है कि आसक्ति छोडकर जो काम किया जाता है वह बन्धक नहीं होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग मे है। यही शिक्षा कर्मशास्त्र से मिलती है और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है:

> मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो'।
> बन्धाय विषयसगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ॥'— मैत्र्युपनिषद्

कर्म का अनादित्व

विचारवान् मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि ? इसके उत्तर में जैनदर्शन का कहना है कि कर्म व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। किन्तु कर्म का प्रवाह कब से चला, इसे कोई बतला नही सकता। भविष्य के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नही है। कर्म-प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से ससार मे न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं।

कर्मबन्ध का कारण

जैनदर्शन मे कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से चार कारण बतलाये गए हैं। इनका सक्षेप पिछले दो (कषाय और योग) कारणों मे किया हुआ भी मिलता है। अधिक सक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्मबन्ध का कारण है। यो तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार हैं, पर उन सबका सक्षेप मे वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानों ने उस के राग, द्वेष दो ही प्रकार किये हैं। अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते हैं सो भी राग-द्वेष के सबन्ध ही से। राग की या द्वेष की मात्रा बढ़ी कि ज्ञान विपरीत रूप मे बदलने लगा। इमसे शब्दभेद होने पर भी कर्मबन्ध के कारण के सबन्ध मे अन्य आस्तिक दर्शनो के साथ जैन दर्शन का कोई मतभेद नही। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन मे मिथ्याज्ञान को, योगदर्शन में प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि मे अविद्या को तथा जैनदर्शन मे मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है. परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाय, पर यदि उसमे कर्म की बन्धकता (कर्मलेप पैदा करने की शक्ति) है तो वह राग-द्वेष के सबन्ध ही से। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शान्तिपर्व के 'कर्मणा बध्यते जन्तु' इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलब राग-द्वेष ही से है।

कर्म से छूटने के उपाय

जैन शास्त्र मे परम पुरुषार्थ—मोक्ष—पाने के तीन साधन बतलाये हुए हैं: (१) सम्यग्दर्शन, (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। कही-कही ज्ञान और क्रिया दो को ही मोक्ष का साधन कहा है। ऐसे स्थल मे दर्शन को ज्ञानस्वरूप—ज्ञान का विशेष—समझकर उससे जुदा नही गिनते। परन्तु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनो मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को मोक्ष का साधन माना है, फिर जैनदर्शन मे तीन या दो ही साधन क्यो कहे गए हैं? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैनदर्शन मे जिस सम्यक्चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है उसमे कर्म और योग दोनों मार्गों का समावेश हो जाता है, क्योकि सम्यक्चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय, चित्तशुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जानेवाले उपायो का समावेश होता है। मनोनिग्रह, इन्द्रिय-जय आदि सात्त्विक यज्ञ ही कर्ममार्ग है और चित्त-शुद्धि तथा उसके लिए की जानेवाली सत्प्रवृत्ति ही योगमार्ग है। इस तरह कर्ममार्ग और योगमार्ग का मिश्रण ही सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन ही भक्तिमार्ग है, क्योकि भक्ति मे श्रद्धा का अश प्रधान है और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धारूप ही है। सम्यग्ज्ञान ही ज्ञानमार्ग है। इस प्रकार जैनदर्शन मे बतलाये हुए मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनों के सब साधनो का समुच्चय हैं।

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व और पुनर्जन्म

कर्म के सबन्ध मे ऊपर जो कुछ कहा गया है। उसकी ठीक-ठीक सगति तभी हो सकती है जब कि आत्मा को जड़ से अलग तत्त्व माना जाय। आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व जिन प्रमाणो से जाना जा सकता है उनमे एक पुनर्जन्म भी है, इतना ही नही, बल्कि वर्तमान शरीर के बाद आत्मा का अस्तित्व माने बिना अनेक प्रश्न हल ही नही हो सकते।

बहुत लोग ऐसे देखे जाते हैं कि वे इस जन्म मे तो प्रामाणिक जीवन बिताते हैं, परन्तु रहते हैं दरिद्री; और ऐसे भी देखे जाते हैं कि जो न्याय, नीति और धर्म का नाम सुनकर चिढ़ते हैं, परन्तु होते हैं वे सब तरह से सुखी। ऐसे अनेक व्यक्ति मिल सकते हैं जो हैं तो स्वयं दोषी और उनके दोषों

का—अपराधों का—फल भोग रहे हैं दूसरे। एक हत्या करता है और दूसरा पकड़ा जाकर फासी पर लटकाया जाता है। एक करता है चोरी और पकड़ा जाता है दूसरा। अब इस पर विचार करना चाहिए कि जिनको अपनी अच्छी या बुरी कृति का बदला इस जन्म मे नही मिला, उनकी कृति क्या यो ही विफल हो जाएगी? इन सब बातो पर ध्यान देने से यह माने बिना सतोष नही होता कि चेतन एक स्वतत्र तत्त्व है। वह जानते या अनजानते जो अच्छा-बुरा कर्म करता है उसका फल उसे भोगना ही पडता है और इसलिए उसे पुनर्जन्म के चक्कर मे घूमना पडता है। बुद्ध भगवान ने भी पुनर्जन्म माना है। पक्का निरीश्वरवादी जर्मन पण्डित निट्शे कर्म-चक्रकृत पुनर्जन्म को मानता है। यह पुनर्जन्म का स्वीकार आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने के लिए प्रबल प्रमाण है।

कर्म-तत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता

जैनदर्शन मे प्रत्येक कर्म की बध्यमान, सत् और उदयमान ये तीन अवस्थाएँ मानी हुई है। उन्हे क्रमश बन्ध, सत्ता और उदय कहते है। जैनेतर दर्शनो मे भी कर्म की उन अवस्थाओ का वर्णन है। उनमे बध्यमान कर्म को 'क्रियमाण', सत्कर्म को 'सचित' और उदयमान कर्म को 'प्रारब्ध', कहा है। किन्तु जैनशास्त्र मे ज्ञानावरणीय आदिरूप से कर्म का ८ तथा १४८ भेदो मे वर्गीकरण किया है और इनके द्वारा ससारी आत्मा की अनुभवसिद्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओ का जैसा खुलासा किया गया है वैसा किसी भी जैनेतर दर्शन मे नही है। पातञ्जलदर्शन मे कर्म के जाति, आयु और भोग तीन तरह के विपाक बतलाए हैं, परन्तु जैनदर्शन मे कर्म के सबन्ध मे किये गये विचार के सामने वह वर्णन नाममात्र का है।

आत्मा के साथ कर्म का बन्ध कैसे होता है? किन-किन कारणो से होता है? किस कारण से कर्म मे कैसी शक्ति पैदा होती है? कर्म अधिक से अधिक और कम-से-कम कितने समय तक आत्मा के साथ लगा रह सकता है? आत्मा के साथ लगा हुआ भी कर्म, कितने समय तक विपाक देने में असमर्थ है? विपाक का नियत समय भी बदला जा सकता है या नही? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्मपरिणाम आवश्यक हैं? एक कर्म

अन्य कर्मरूप कब बन सकता है ? उसकी बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं ? पीछे से विपाक देनेवाला कर्म पहले ही कब और किस तरह भोगा जा सकता है ? कितना भी बलवान कर्म क्यो न हो, पर उसका विपाक शुद्ध आत्मिक परिणामो से कैसे रोक दिया जाता है ? कभी-कभी आत्मा के शतश· प्रयत्न करने पर भी कर्म अपना विपाक बिना भोगवाए क्यो नही छूटता ? आत्मा किस तरह कर्म का कर्त्ता और किस तरह भोक्ता है ? इतना होने पर भी वस्तुत आत्मा में कर्म का कर्तृव्य और भोक्तृत्व किस प्रकार नही है ? सक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षणशक्ति से आत्मा पर एक प्रकार की सूक्ष्म रज का पटल किस तरह डाल देते हैं ? आत्मा वीर्य-शक्ति के आविर्भाव के द्वारा इस सूक्ष्म रज के पटल को किस तरह उठा फेंक देती है। स्वभावत. शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से किस-किस प्रकार मलीन-सी दीखती है ? और बाह्य हजारो आवरणो के होने पर भी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत किस तरह नही होती है ? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी किस तरह हटा देती है? वह अपने मे वर्त्तमान परमात्मभाव को देखने के लिए जिस समय उत्सुक होती है उस समय उसके, और अतरायभूत कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व (युद्ध) होता है ? अन्त मे वीर्यवान आत्मा किस प्रकार के परिणामो से बलवान कर्मों को कमजोर करके अपने प्रगति-मार्ग को निष्कण्टक करती है ? आत्म-मन्दिर मे वर्तमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में सहायक परिणाम, जिन्हें 'अपूर्वकरण' तथा 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जीव अपनी शुद्ध परिणाम-तरगमाला के वैद्युतिक यन्त्र से कर्म के पहाड़ो को किस कदर चूर-चूर कर डालता है ? कभी-कभी गुलाट खाकर कर्म ही, जो-कुछ देर के लिए दबे होते हैं, वे ही प्रगतिशील आत्मा को किस तरह नीचे पटक देते हैं ? कौन-कौन कर्म, बन्ध की व उदय की अपेक्षा आपस में विरोधी हैं ? किस कर्म का बन्ध किस अवस्था में अवश्यं-भावी और किस अवस्था मे अनियत है ? किस कर्म का विपाक किस हालत तक नियत और किस हालत मे अनियत है ? आत्मसंबद्ध अतीन्द्रिय कर्म-राज किस प्रकार की आकर्षणशक्ति से स्थूल पुद्गलो को खीचा करता है और उनके द्वारा शरीर, मन, सूक्ष्म शरीर आदि का निर्माण किया करता

है ? इत्यादि संख्यातीत प्रश्न, जो कर्म से संबन्ध रखते हैं, उनका सयुक्तिक, विस्तृत व विशद खुलासा जैन कर्मसाहित्य के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन के साहित्य से नहीं किया जा सकता। यही कर्मतत्त्व के विषय में जैनदर्शन की विशेषता है।

(द० औ० चिं० ख० २ पृ० २०५-२१६, २२३-२२९, २३५-२३८)

: १३ :

अनेकान्तवाद

अनेकान्त जैन सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है, जो तत्त्वज्ञान और धर्म दोनो विषयो मे समान रूप से मान्य हुआ है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनो शब्द इस समय सामान्यत एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। केवल जैन ही नही, परन्तु समझदार जैनेतर लोग भी जैनदर्शन और जैन सम्प्रदाय को अनेकान्तदर्शन अथवा अनेकान्तसम्प्रदाय के रूप मे जानते हैं। सर्वदा से जैन अपनी अनेकान्त-विषयक मान्यता को एक अभिमान की वस्तु मानते आये हैं और उसकी भव्यता, उदारता तथा सुन्दरता का स्थापन करते आये है। यहाँ हमे देखना है कि यह अनेकान्त क्या है।

अनेकान्त का सामान्य विवेचन

अनेकान्त एक प्रकार की विचारपद्धति है। वह सर्व दिशाओं मे और सब बाजुओ मे विचरण करनेवाला एक बन्धनमुक्त मानसचक्षु है। ज्ञान के, विचार के और आचरण के किसी भी विषय को वह मात्र एक टूटे या अपूर्ण पहलू से देखने से इन्कार करता है और शक्य हो उतने अधिकाधिक पहलुओ से, अधिकाधिक ब्योरो से और अधिकाधिक मार्मिकतापूर्वक सब-कुछ सोचने-समझने और आचरण करने का उसका पक्षपात है। उसका यह पक्षपात भी सत्य की नीव पर आधारित है। अनेकान्त की सजीवता अथवा जीवन यानी उसके आगे, पीछे या भीतर सर्वत्र सत्य का—यथार्थता का प्रवाह। अनेकान्त मात्र कल्पना नहीं है, परन्तु सत्यसिद्ध कल्पना होने से वह तत्त्वज्ञान है और विवेकी आचरण का विषय होने से धर्म भी है। अनेकान्त की सजीवता इसी मे है कि वह जिस प्रकार दूसरे विषयों को तटस्थ भाव से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, उसी

प्रकार वह अपने स्वरूप तथा सजीवता के बारे मे भी मुक्त मन से विचार करने को कहता है। जितनी विचार की उन्मुक्तता, स्पष्टता और तटस्थता, उतना ही अनेकान्त का बल या जीव।

(द० औ० चि० भा० २, पृ० ८७३)

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म-पन्थ, उसकी आधारभूत—उसके मूल प्रवर्तक पुरुष की—एक खास दृष्टि होती है, जैसे कि—शकराचार्य की अपने मतनिरूपण मे 'अद्वैतदृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म-पन्थ प्रवर्तन मे 'मध्यमप्रतिपदादृष्टि' खास दृष्टि है। जैन दर्शन भारतीय दर्शनो मे एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्य पुरुषो की एक खास दृष्टि उनके मूल में होनी ही चाहिए और वह है भी। यही दृष्टि अनेकान्तवाद है। तात्त्विक जैन-विचारणा अथवा आचार-व्यवहार जो-कुछ भी हो, वह सब अनेकान्तदृष्टि के आधार पर किया जाता है। अथवा यो कहिए कि अनेक प्रकार के विचारो तथा आचारो मे से जैन विचार और जैनाचार क्या है? कैसे हो सकते है? इन्हे निश्चित करने व कसने की एकमात्र कसौटी भी अनेकान्तदृष्टि ही है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० १४९)

अन्य दर्शनों में अनेकान्तदृष्टि

हम सभी जानते है कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी[1] कहते हैं। जैन आगमो मे महावीर को भी विभज्यवादी कहा है।[2] विभज्यवाद का मतलब पृथक्करणपूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना है। विभज्यवाद का ही दूसरा मतलब अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद मे एकान्तदृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा मे विभज्य-वाद के स्थान में मध्यममार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। हमने ऊपर देखा कि

१. मज्झिमनिकाय सुत्त ९९।
२. सूत्रकृताग १. १४. २२।

अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न-भिन्न विचारको का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव है। अतएव हम न्याय, साख्य-योग और मीमासक जैसे दर्शनो मे भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं। अक्षपाद कृत 'न्यायसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २- १–१५, १६ के भाष्य मे जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और 'यथादर्शन विभागवचनम्' कहकर तो उन्होने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम साख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन-प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे, तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। 'योगदर्शन' के ३–१३ सूत्र के भाष्य तथा तत्त्ववैशारदी विवरण को ध्यान से पढने वाला साख्य-योग दर्शन की अनेकान्तदृष्टि को यथावत् समझ सकता है। कुमारिल ने भी 'श्लोकवार्तिक' और अन्यत्र अपनी तत्त्व-व्यवस्था मे अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है।[1] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुत अनेकान्त-विचारसरणी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। तत्त्वचिन्तन की बात छोडकर हम मानवयूथो के जुदे-जुदे आचार-व्यवहारो पर ध्यान देंगे, तो भी उनमे अनेकान्तदृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्तदृष्टि मे पूरा प्रकट हो ही नही सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्त दृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नही सकता।

(द० औ० चिं० खं० २, पृ० ५००-५०१)

अनेकान्तदृष्टि का आधार : सत्य

जब सारे जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्तदृष्टि ही है तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि किन तत्त्वो के आधार पर खडी की गई है? विचार करने और अनेकान्तदृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होता है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते हैं और सत्य की ही खोज तथा सत्य के

---

१. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद २९-३० आदि।

ही निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सब की एक-सी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शङ्कराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भ० महावीर की सत्यप्रकाशन की शैली जुदा है। भ० महावीर की सत्यप्रकाशनशैली का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

वस्तु का पूर्ण रूप मे त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाय तथापि उसका उसी रूप मे शब्दो के द्वारा ठीक-ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बडा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अश में करनेवाले निकल भी आएँ तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सबके कथन मे कुछ-न-कुछ विरोध या भेद का दिखाई देना अनिवार्य है यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इने-गिने मनुष्यो की बात, जिन्हे हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यो तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यो मे भी बहुत-से यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति मे यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यो की भी समझ में कभी-कभी भेद आ जाता है और सस्कारभेद उनमे और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियो के द्वारा अन्त मे भेद और विरोध की सामग्री आप ही आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

भ० महावीर के द्वारा सशोधित अनेकान्तदृष्टि और उसकी शर्तें

ऐसी वस्तुस्थिति देखकर भ० महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन-सा रास्ता निकाला जाए जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्य दर्शन करनेवाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना

दर्शन सत्य है तो दोनों को ही न्याय मिले इसका भी क्या उपाय है ? इसी चिंतनप्रधान तपस्या ने भगवान् को अनेकान्तदृष्टि सुझाई, उनका सत्य-सशोधन का सकल्प सिद्ध हुआ। उन्होने उस मिली हुई अनेकान्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्त दृष्टि को निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्ही शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्ते इस प्रकार है—

१ राग और द्वेषजन्य सस्कारो के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थभाव रखना :

२. जब तक मध्यस्थभाव का पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

३. कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४. अपने तथा दूसरो के अनुभवो मे से जो-जो अश ठीक जँचे, चाहे वे विरोधी ही प्रतीत क्यो न हो, उन सबका विवेक—प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढने पर पूर्व के समन्वय मे जहा गलती मालूम हो वहाँ मिथ्याभिमान छोडकर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढना।

अनेकान्तदृष्टि का खण्डन और उसका व्यापक प्रभाव

जब दूसरे विद्वानो ने अनेकान्तदृष्टि को तत्त्वरूप मे ग्रहण करने की जगह साप्रदायिकवाद रूप मे ग्रहण किया तब उसके ऊपर चारो ओर से आक्षेपो के प्रहार होने लगे। बादरायण जैसे सूत्रकारो ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रो के भाष्यकारो ने उसी विषय में अपने भाष्यो की रचनाएँ की। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शातरक्षित जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की पूरी खबर

ली। इधर से जैन विचारक विद्वानों ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्त-दृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी साम्प्रदायिक विद्वानो पर भी पडा। दक्षिण हिन्दुस्तान में प्रचण्ड दिगम्बराचार्यों और प्रकाण्ड मीमासक तथा वेदान्त के विद्वानो के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उससे अन्त में अनेकान्तदृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज जैसे बिलकुल जैनत्व विरोधी प्रखर आचार्य ने शङ्कराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्यत. उपनिषदो का लिया, पर उनमे से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया, अथवा यो कहिए कि रामानुज ने अपने ढग से अनेकान्तदृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद तत्त्व का जामा पहनाकर अनेकान्तदृष्टि मे से विशिष्टाद्वैतवाद खडा करके अनेकान्तदृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्तमार्ग पर स्थित रखा। पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्त्ता वल्लभ, जो दक्षिण हिन्दुस्तान मे हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व है तो औपनिषदिक, पर उनकी सारी विचारसरणी अनेकान्तदृष्टि का नया वेदान्तीय स्वाँग है। इधर उत्तर और पश्चिम हिन्दुस्तान मे जो दूसरे विद्वानो के साथ श्वेताम्ब-रीय महान् विद्वानो का खण्डनमण्डन-विषयक द्वन्द्व हुआ, उसके फल-स्वरूप अनेकान्तवाद का असर जनता मे फैला और साम्प्रदायिक ढग से अनेकातवाद का विरोध करनेवाले भी जानते-अनजानते अनेकान्तदृष्टि को अपनाने लगे। इस तरह वाद रूप मे अनेकातदृष्टि आज तक जैनों की ही बनी हुई है, तथापि उसका असर किसी न किसी रूप मे अहिंसा की तरह विकृत या अर्धविकृत रूप मे हिन्दुस्तान के हरएक भाग मे फैला हुआ है। इसका सबूत सब भागो के साहित्य मे से मिल सकता है।

(द० औ० चिं० ख० २, पृ० १५१-१५२, १५५-१५६)

: १४ :

नयवाद

जैन तत्वज्ञान की परिभाषाओ मे नयवाद की परिभाषा का भी स्थान है। नय पूर्ण सत्य की एक बाजू को जाननेवाली दृष्टि का नाम है। ऐसे नय के सात प्रकार जैन शास्त्रों मे पुराने समय से मिलते हैं, जिन मे प्रथम नय का नाम है 'नैगम'।

'नैगम' शब्द का मूल और अर्थ

कहना न होगा कि नैगम शब्द 'निगम' से बना है, जो निगम वैशाली मे थे और जिनके उल्लेख सिक्को मे भी मिले है। 'निगम' समान कारोबार करनेवालों की श्रेणीविशेष है। उसमे एक प्रकार की एकता रहती है और सब स्थूल व्यवहार एक-सा चलता है। उसी 'निगम' का भाव लेकर उसके ऊपर से नैगम शब्द के द्वारा जैन परम्परा ने एक ऐसी दृष्टि का सूचन किया है जो समाज में स्थूल होती है और जिसके आधार पर जीवनव्यवहार चलता है।

अवशिष्ट छः नय, उनका आधार और स्पष्टीकरण

नैगम के बाद संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे छः शब्दो के द्वारा आंशिक विचारसरणियो का सूचन आता है। मेरी राय मे उक्त छहो दृष्टियाँ यद्यपि तत्वज्ञान से सबन्ध रखनी है, पर वे मूलतः उस समय के राज्य-व्यवहार और सामाजिक-व्यावहारिक आधार पर फलित की गई हैं। इतना ही नही, बल्कि संग्रह, व्यवहारादि ऊपर सूचित शब्द भी तत्कालीन भाषाप्रयोगो से लिए है। अनेक गण मिलकर राज्यव्यवस्था या समाजव्यवस्था करते थे, जो एक प्रकार का समुदाय

या संग्रह होता था और जिसमें भेद में अभेद दृष्टि का प्राधान्य रहता था। तत्त्वज्ञान के संग्रह नय के अर्थ में भी वही भाव है। व्यवहार चाहे राजकीय हो या सामाजिक, वह जुदे-जुदे व्यक्ति या दल के द्वारा ही सिद्ध होता है। तत्त्वज्ञान के व्यवहार नय मे भी भेद अर्थात् विभाजन का ही भाव मुख्य है। हम वैशाली मे पाए गए सिक्कों से जानते हैं कि 'व्यावहारिक' और 'विनिश्चय महामात्य' की तरह 'सूत्रधार' भी एक पद था। मेरे ख्याल से सूत्रधार का काम वही होना चाहिए, जो जैन तत्त्वज्ञान के ऋजुसूत्र नय शब्द से लक्षित होता है। ऋजुसूत्रनय का अर्थ है—आगे पीछे की गली कूचे मे न जाकर केवल वर्तमान का ही विचार करना। सभव है, सूत्रधार का काम भी वैसा ही कुछ रहा हो, जो उपस्थित समस्याओं को तुरन्त निबटाए। हरेक समाज मे, सम्प्रदाय मे और राज्य मे भी प्रसगविशेष पर शब्द अर्थात् आज्ञा को ही प्राधान्य देना पड़ता है। जब अन्य प्रकार से मामला सुलझता न हो तब किसी एक का शब्द ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है। शब्द के इस प्राधान्य का भाव अन्य रूप मे शब्दनय मे गर्भित है। बुद्ध ने खुद ही कहा है कि लिच्छवीगण पुराने रीतिरिवाजो अर्थात् रूढियो का आदर करते हैं। कोई भी समाज प्रचलित रूढियों का सर्वथा उन्मूलन करके नही जी सकता। समभिरूढनय मे रूढि के अनुसरण का भाव तात्त्विक दृष्टि से घटाया है। समाज, राज्य और धर्म की व्यवहारगत और स्थूल विचार-सरणी या व्यवस्था कुछ भी क्यो न हो, पर उसमे सत्य की पारमार्थिक दृष्टि न हो तो वह न जी सकती है, न प्रगति कर सकती है। एवम्भूतनय उसी पारमार्थिक दृष्टि का सूचक है जो तथागत के 'तथा' शब्द मे या पिछले महायान के 'तथता' मे निहित है। जैन परम्परा मे भी 'तहत्ति' शब्द उसी युग से आज तक प्रचलित है, जो इतना ही सूचित करता है कि सत्य जैसा है वैसा हम स्वीकार करते हैं।

(द० औ० चिं० ख० १, पृ० ५८-६०)

अपेक्षाएँ और अनेकान्त

मकान किसी एक कोने में पूरा नही होता। उसके अनेक कोने भी किसी एक ही दिशा में नही होते। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि परस्पर विरुद्ध

दिशावाले एक-एक कोने पर खड़े रहकर किया जानेवाला उस मकान का अवलोकन पूर्ण तो नही होता, पर वह अयथार्थ भी नही। जुदे-जुदे सम्भवित सभी कोनो पर खड़े रहकर किये जानेवाले सभी सम्भवित अवलोकनो का सारसमुच्चय ही उस मकान का पूरा अवलोकन है। प्रत्येक कोणसम्भवी प्रत्येक अवलोकन उस पूर्ण अवलोकन का अनिवार्य अङ्ग है। वैसे ही किसी एक वस्तु या समग्र विश्व का तात्त्विक चिन्तन-दर्शन भी अनेक अपेक्षाओ से निष्पन्न होता है। मन की सहज रचना, उस पर पडनेवाले आगन्तुक सस्कार और चिन्त्य वस्तु का स्वरूप इत्यादि के सम्मेलन से ही अपेक्षा बनती है। ऐसी अपेक्षाएँ अनेक होती हैं, जिनका आश्रय लेकर वस्तु का विचार किया जाता है। विचार को सहारा देने के कारण या विचार-स्रोत के उद्गम का आधार बनने के कारण वे ही अपेक्षाएँ दृष्टि-कोण या दृष्टि-बिन्दु भी कही जाती है। सम्भवित सभी अपेक्षाओ से—चाहे वे विरुद्ध ही क्यो न दिखाई देती हो—किये जानेवाले चिन्तन व दर्शनो का सारसमुच्चय ही उस विषय का पूर्ण—अनेकान्त दर्शन है। प्रत्येक अपेक्षासम्भवी दर्शन उस पूर्ण दर्शन का एक-एक अङ्ग है, जो परस्पर विरुद्ध होकर भी पूर्ण दर्शन मे समन्वय पाने के कारण वस्तुत अविरुद्ध ही है।

सात नयों का कार्यक्षेत्र

जब किसी की मनोवृत्ति विश्व के अन्तर्गत सभी भेदो को—चाहे वे गुण, धर्म या स्वरूपकृत हो या व्यक्तित्वकृत हो—भुलाकर अर्थात् उनकी ओर झुके बिना ही एक मात्र अखण्डता का विचार करती है, तब उसे अखण्ड या एक ही विश्व का दर्शन होता है। अभेद की उस भूमिका पर से निष्पन्न होनेवाला 'सत्' शब्द के एकमात्र अखण्ड अर्थ का दर्शन ही सग्रह नय है। गुण-धर्मकृत या व्यक्तित्वकृत भेदो की ओर झुकनेवाली मनोवृत्ति से किया जानेवाला उसी विश्व का दर्शन व्यवहार नय कहलाता है, क्योकि उसमे लोकसिद्ध व्यवहारो की भूमिका रूप से भेदो का खास स्थान है। इस दर्शन के 'सत्' शब्द की अर्थमर्यादा अखण्डित न रह कर अनेक खण्डो मे विभाजित हो जाती है। वही भेदगामिनी मनोवृत्ति या अपेक्षा कालकृत भेदों की ओर झुककर सिर्फ वर्तमान को ही कार्यक्षम होने के कारण जब सत्

रूप से देखती है और अतीत-अनागत को 'सत्' शब्द की अर्थमर्यादा में से हटा देती है तब उसके द्वारा फलित होनेवाला विश्व का दर्शन ऋजुसूत्र नय है, क्योंकि वह अतीत-अनागत के चक्रव्यूह को छोड़कर सिर्फ वर्त्तमान की सीधी रेखा पर चलता है।

उपर्युक्त तीनो मनोवृत्तियाँ ऐसी हैं, जो शब्द या शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय लिये बिना ही किसी भी वस्तु का चिन्तन करती हैं। अतएव वे तीनो प्रकार के चिन्तन अर्थनय हैं। पर ऐसी भी मनोवृत्ति होती है, जो शब्द के गुण-धर्मों का आश्रय लेकर ही अर्थ का विचार करती है। अतएव ऐसी मनोवृत्ति से फलित अर्थचिन्तन शब्दनय कहे जाते हैं। शाब्दिक लोग ही मुख्यतया शब्द नय के अधिकारी है; क्योकि उन्ही के विविध दृष्टि-बिन्दुओ से शब्दनय मे विविधता आई है।

जो शाब्दिक सभी शब्दो को अखण्ड अर्थात् अव्युत्पन्न मानते हैं वे व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद न मानने पर भी लिङ्ग, पुरुष, काल आदि अन्य प्रकार के शब्दधर्मो के भेद के आधार पर अर्थ का वैविध्य बतलाते हैं। उनका वह अर्थ-भेद का दर्शन शब्दनय या साम्प्रत नय है। प्रत्येक शब्द को व्युत्पत्तिसिद्ध ही माननेवाली मनोवृत्ति से विचार करनेवाले शाब्दिक पर्याय अर्थात् एकार्थक समझे जानेवाले शब्दो के अर्थ मे भी व्युत्पत्तिभेद से भेद बतलाते है। उनका वह शक्र, इन्द्र आदि जैसे पर्याय शब्दो के अर्थभेद का दर्शन समभिरूढ नय कहलाता है। व्युत्पत्ति के भेद से ही नही, बल्कि एक ही व्युत्पत्ति से फलित होनेवाले अर्थ की मौजूदगी और गैर-मौजूदगी के भेद के कारण से भी जो दर्शन अर्थभेद मानता है वह एवभूत नय कहलाता है। इन तार्किक छ नयो के अलावा एक नैगम नाम का नय भी है, जिसमे निगम अर्थात् देशरूढि के अनुसार अभेदगामी और भेदगामी सब प्रकार के विचारो का समावेश माना गया है। प्रधानतया ये ही सात नय हैं, पर किसी एक अश को अर्थात् दृष्टिकोण को अवलम्बित करके प्रवृत्त होनेवाले सब प्रकार के विचार उस-उस अपेक्षा के सूचक नय ही हैं।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय

शास्त्र मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो नय भी प्रसिद्ध हैं, पर वे

नय उपर्युक्त सात नयों से अलग नही हैं, किन्तु उन्हीं का संक्षिप्त वर्गीकरण या भूमिका मात्र हैं। द्रव्य अर्थात् सामान्य, अन्वय, अभेद या एकत्व को विषय करनेवाला विचारमार्ग द्रव्यार्थिक नय है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीनों द्रव्यार्थिक ही हैं। इनमें से संग्रह तो शुद्ध अभेद का विचारक होने से शुद्ध या मूल ही द्रव्यार्थिक है, जब कि व्यवहार और नैगम की प्रवृत्ति भेदगामी होकर भी किसी न किसी प्रकार के अभेद को भी अवलम्बित करके ही चलती है। इसलिए वे भी द्रव्यार्थिक ही माने गये है। अलबत्ता, वे संग्रह की तरह शुद्ध न होकर अशुद्ध-मिश्रित ही द्रव्यार्थिक हैं।

पर्याय अर्थात् विशेष, व्यावृत्ति या भेद को ही लक्ष्य करके प्रवृत्त होनेवाला विचारपथ पर्यायार्थिक नय है। ऋजुसूत्र आदि बाकी के चारो नय पर्यायार्थिक ही माने गये हैं। अभेद को छोडकर एकमात्र भेद का विचार ऋजुसूत्र से शुरू होता है; इसलिए उसी को शास्त्र मे पर्यायार्थिक नय की प्रकृति या मूलाधार कहा है। पिछले तीन नय उसी मूलभूत पर्यायार्थिक के एक प्रकार से विस्तारमात्र है।

केवल ज्ञान को उपयोगी मानकर उसके आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा ज्ञाननय है, तो केवल क्रिया के आश्रय से प्रवृत्त होनेवाली विचारधारा क्रियानय है। नयरूप आवार-स्तम्भो के अपरिमित होने के कारण विश्व का पूर्ण दर्शन-अनेकान्त भी निस्सीम है।

(द० औ० चिं० ख० २, पृ० १७०-१७२)

निश्चय और व्यवहार नय का अन्य दर्शनों में स्वीकार

निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। विद्वान् लोग जानते हैं कि इसी नय-विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों मे भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियो से निरूपण करता आया है। शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों मे परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है, पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किया जानेवाला तत्त्वनिरूपण बिलकुल जुदा-जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों मे निश्चयदृष्टिसम्मत तत्त्व-

निरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चयदृष्टिसम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा, वर्गीकरण आदि भिन्न हों। यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहाररूप दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रो में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैन दर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है।

तत्त्वज्ञान और आचार में उनकी भिन्नता

जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनो में होता है तब सामान्य रूप से शास्त्रचिन्तन करनेवाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जानेवाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र मे किये जानेवाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि और आचार विषयक निश्चयदृष्टि ये दोनो एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहारदृष्टि के बारे मे भी समझना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण यो है—

तत्त्वलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि

जब निश्चयदृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो, तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिये कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं, कितने हैं और उनका क्षेत्र-काल आदि से निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहारदृष्टि से तत्त्वनिरूपण इष्ट हो, तब उन्ही मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चयदृष्टि का उपयोग करके जैनदर्शनसम्मत तत्त्वो का स्वरूप कहना चाहे तो सक्षेप मे यह कह सकते हैं कि चेतन-अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त विजातीय दो तत्त्व हैं। दोनो एक-दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते है। चेतन का संकोच-विस्तार द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टि से सिद्ध होता है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एकप्रदेशावगाह्यत्व निश्चयदृष्टि का विषय है, जब कि उसका स्कन्ध-परिणमन या अपने क्षेत्र मे अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है।

आचारलक्षी निश्चय एवं व्यवहार दृष्टि

परन्तु आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जुदे प्रकार से होता है। जैन दर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्षी है वही नैश्चयिक आचार है। इस आचार मे दृष्टिभ्रम और काषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नही। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न भिन्न-भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी-कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले भी आचार व्यावहारिक आचार की कोटि मे गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति अनेकविध व्यावहारिक आचारो मे से गुजरता है। इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है, जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य मे रखकर ही प्रवृत्त होती है।

तत्त्वलक्षी और आचारलक्षी निश्चय एवं व्यवहारिक दृष्टि के बीच एक अन्य महत्त्व का अन्तर

तत्त्वज्ञान और आचारलक्षी उक्त दोनो नयो मे एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है, जो ध्यान देने योग्य है। नैश्चयिक-दृष्टिसम्मत तत्त्वो का स्वरूप साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नही पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे मे ऐसा नहीं है। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को प्रत्यक्ष जान सकता है, जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वत्तियाँ सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक, तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस-उस दर्शन के सभी अनुयायियो के लिए एक-सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है, पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नही। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से मै केवल

इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दो शब्द भले ही समान हों, पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं और हमें विभिन्न परिणामो पर पहुँचाते हैं ।

जैन एवं उपनिषद के तत्त्वज्ञान की निश्चयदृष्टि के बीच भेद

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद तत्त्वज्ञान से बिलकुल भिन्न है। प्राचीन माने जानेवाले सभी उपनिषद् सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश आदि भिन्न-भिन्न नामो से जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जगत् जड़-चेतन आदि रूप मे कैसा ही नानारूप क्यो न हो, पर उसके मूल में असली तत्त्व तो केवल एक ही है; जब कि जैनदर्शन जगत के मूल मे किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नही करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वो का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व माननेवाले साख्य दर्शन को और शाकर आदि वेदान्त शाखाओ को छोड़कर भारतीय दर्शनो मे ऐसा कोई दर्शन नही जो जगत के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो, साख्य-योग हो या पूर्वमीमासा हो, सब अपने-अपने ढग से जगत के मूल मे अनेक तत्त्वो का स्वीकार करते है। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद तत्त्वचिन्तन की प्रकृति से सर्वथा भिन्न है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ४९८-५००)

: १५ :

सप्तभंगी

सप्तभंगी और उसका आधार

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ, दृष्टिकोणो या मनोवृत्तियो से जो एक ही तत्त्व के नाना दर्शन फलित होते हैं उन्ही के आधार पर भगवाद की सृष्टि खडी होती है। जिन दो दर्शनो के विषय ठीक एक-दूसरे से बिल्कुल विरोधी जान पडते हो ऐसे दर्शनो का समन्वय बतलाने की दृष्टि से उनके विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनो अशो को लेकर उन पर जो सम्भवित वाक्य-भग बनाए जाते हैं वही सप्तभगी है। सप्तभगी का आधार नयवाद है, और उसका ध्येय समन्वय है अर्थात् अनेकान्त कोटि का व्यापक दर्शन कराना है; जैसे किसी भी प्रमाण से जाने हुए पदार्थ का दूसरे को बोध कराने के लिए परार्थ-अनुमान अर्थात् अनुमानवाक्य की रचना की जाती है, वैसे ही विरुद्ध अशो का समन्वय श्रोता को समझाने की दृष्टि से भग-वाक्य की रचना भी की जाती है। इस तरह नयवाद और भगवाद अनेकान्तदृष्टि के क्षेत्र मे अपने आप ही फलित हो जाते हैं।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० १७२)

सात भंग और उनका मूल

(१) भग अर्थात् वस्तु का स्वरूप बतलानेवाले वचन का प्रकार अर्थात् वाक्यरचना।

(२) वे सात कहे जाते हैं, फिर भी मूल तो तीन [(१) स्याद् अस्ति, (२) स्याद् नास्ति, और (३) स्याद् अवक्तव्य] ही हैं। अवशिष्ट चार [(१) स्याद् अस्ति-नास्ति, (२) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, (३) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, और (४) स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य] तो मूल भंगों के पारस्परिक विविध सयोजन से होते हैं।

(३) किसी भी एक वस्तु के बारे मे या एक ही धर्म के बारे में भिन्न-भिन्न विचारको की मान्यता मे भेद दिखाई देता है। यह भेद विरोधरूप है या नही और यदि न हो तो दृश्यमान विरोध मे अविरोध किस प्रकार घटाना ? अथवा यो कहो कि अमुक विवक्षित वस्तु के बारे मे जब धर्म-विषयक दृष्टि-भेद दिखाई देते हो तब वैसे भेदों का प्रमाणपूर्वक समन्वय करना और वैसा करके सभी सही दृष्टियों को उनके योग्य स्थान में रखकर न्याय करना—इस भावना में सप्तभगी का मूल है।

सप्तभंगी का कार्य : विरोध का परिहार

उदाहरणार्थ एक आत्मद्रव्य को लेकर उसके नित्यत्व के बारे मे दृष्टि-भेद हैं। कोई आत्मा को नित्य मानता है, तो कोई नित्य मानने से इन्कार करता है, और कोई ऐसा कहता है कि वह तत्त्व ही वचन-अगोचर है। इस प्रकार आत्मतत्त्व के बारे मे तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं। इसलिए यह विचारणीय है कि क्या वह नित्य ही है और अनित्यत्व उसमे प्रमाणबाधित है ? अथवा क्या वह अनित्य ही है और नित्यत्व उसमे प्रमाणबाधित है ? अथवा उसे नित्य या अनित्य न कहकर अवक्तव्य ही कहना योग्य है ? इन तीनो विकल्पो की परीक्षा करने पर तीनो यदि सच्चे हों तो उनका विरोध दूर करना चाहिए। जब तक विरोध खडा रहेगा तब तक परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म एक वस्तु मे हैं ऐसा कहा नही जा सकता। फलत विरोध-परिहार की ओर ही सप्तभगी की दृष्टि सर्वप्रथम जाती है। वह निश्चित करती है कि आत्मा नित्य ही है, परन्तु सब दृष्टियो से नही; मात्र मूल तत्त्व की दृष्टि से वह नित्य है, क्योकि वह तत्त्व पहले कभी नही था और पीछे से उत्पन्न हुआ ऐसा नही है तथा वह तत्त्व मूल मे ही से नष्ट होगा ऐसा भी नही है। अत तत्त्वरूप से वह अनादिनिधन है और यही उसका नित्यत्व है। ऐसा होने पर भी वह अनित्य भी है, परन्तु उसका अनित्यत्व द्रव्य दृष्टि से नहीं किन्तु मात्र अवस्था की दृष्टि से है। अवस्थाएँ तो प्रतिसमय निमित्तानुसार बदलती रहती ही हैं। जिसमे कुछ-न-कुछ रूपान्तर न होता हो, जिसमे आन्तरिक या बाह्य निमित्त के अनुसार सूक्ष्म या स्थूल अवस्थाभेद सतत चालू न रहता हो वैसे तत्त्व की कल्पना

ही नही हो सकती। अत: अवस्थाभेद मानना पडता है, और वही अनित्यत्व है। इस प्रकार आत्मा द्रव्य रूप से (सामान्य रूप से) नित्य होने पर भी अवस्था रूप से (विशेष रूप से) अनित्य भी है। नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एक ही स्वरूप से एक वस्तु में मानने पर विरोध आता है; जैसे कि द्रव्यरूप से ही आत्मा नित्य है ऐसा मानने वाला उसी रूप से अनित्य माने तो। इसी प्रकार आत्मा नित्य, अनित्य आदि शब्द द्वारा उस-उस रूप से प्रतिपाद्य होने पर भी समग्र रूप से किसी एक शब्द से नही कही जा सकती, अत वह असमग्र रूप से शब्द का विषय होती है; फिर भी समग्र रूप से वैसे किसी शब्द का विषय नही हो सकती, अत. अवक्तव्य भी है। इस प्रकार एक नित्यत्वधर्म के आधार पर आत्मा के बारे मे नित्य, अनित्य और अवक्तव्य ऐसे तीन पक्ष—भग उचित ठहरते हैं।

इसी प्रकार एकत्व, सत्त्व, भिन्नत्व, अभिलाप्यत्व आदि सर्वसाधारण धर्मों को लेकर किसी भी वस्तु के बारे मे ये तीन भग बन सकते है और उन पर से सात भी बन सकते है। चेतनत्व, घटत्व आदि असाधारण धर्मों को लेकर भी सप्तभगी घटाई जा सकती है। एक वस्तु मे व्यापक या अव्यापक जितने धर्म हो उनमे से प्रत्येक को लेकर और उसका दूसरा पक्ष सोचकर सात भग घटाये जा सकते हैं।

प्राचीन काल मे आत्मा, शब्द आदि पदार्थोंमे नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-बहुत्व, व्यापकत्व-अव्यापकत्व आदि को लेकर परस्पर विरोधी वाद चलते थे। इन वादो का समन्वय करने की वृत्ति मे से भग-कल्पना पैदा हुई। इस भगकल्पना ने भी आगे जाकर साम्प्रदायिक वाद का रूप धारण किया और उसका सप्तभगी मे परिणमन हुआ।

सात से अधिक भग सम्भव नही है, इसीलिए सात की सख्या कही है। मूल तीन की विविध सयोजना करो और सात मे अन्तर्भूत न हो ऐसा कोई भंग बनाओ तो जैन दर्शन सप्तभगित्व का आग्रह कर ही नही सकता।

इसका सक्षिप्त सार अधोलिखित है .—

(१) तत्कालीन प्रचलित वादों का समीकरण करना—यह भावना सप्तभगी की प्रेरक है।

(२) वैसा करके वस्तु के स्वरूप का विनिश्चय करना और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना—यह उसका साध्य है।

(३) बुद्धि में भासित होनेवाले किसी भी धर्म के बारे में मुख्य तीन ही विकल्प सभव है और चाहे जितने शाब्दिक परिवर्तन से संख्या बढाई जाय तो भी वे सात ही हो सकते हैं।

(४) जितने धर्म उतनी ही सप्तभगी हैं। यह वाद अनेकान्तदृष्टि का विचार-विषयक एक सबूत है। इसके दृष्टान्त के रूप मे जो शब्द, आत्मा आदि दिये हैं उसका कारण यह है कि प्राचीन आर्य विचारक आत्मा का विचार करते थे और बहुत हुआ तो आगम प्रामाण्य की चर्चा मे शब्द को लेते थे।

(५) वैदिक आदि दर्शनो में भी अनेकान्तदृष्टि का स्वरूप देखा जा सकता है।

(६) प्रमाण से बाधित न हो उनसब दृष्टियो का सग्रह करने का इसके पीछे उद्देश्य है, फिर भले ही वे विरुद्ध मानी जाती हो।

(द० अ० चि० भा० २, पृ० १०६२-१०६४)

महत्त्व के चार भंगों का अन्यत्र उपलब्ध निर्देश

सप्तभगीगत सात भगो मे शुरू के चार ही महत्त्व के हैं[1] क्योकि वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थो में तथा 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजालसूत्र मे ऐसे चार विकल्प छूटे-छूटे रूप मे या एक साथ निर्दिष्ट पाये जाते हैं। सात भगों मे जो पिछले तीन भग है उनका निर्देश किसी के पक्षरूप मे कही देखने मे नही आया। इससे शुरू के चार भग ही अपनी ऐतिहासिक भूमिका रखते हैं ऐसा फलित होता है।

---

१. ये सात भग इस प्रकार है : (१) स्याद् अस्ति; (२) स्याद् नास्ति, (३) स्याद् अस्ति-नास्ति, (४) स्याद् अवक्तव्य, (५) स्याद् अस्ति-अवक्तव्य, (६) स्याद् नास्ति-अवक्तव्य, (७) स्याद् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य।

'अवक्तव्य' के अर्थ के विषय में कुछ विचारणा

शुरू के चार भगों मे एक 'अवक्तव्य' नाम का भग भी है। उसके अर्थ के बारे मे कुछ विचारणीय बात है। आगमयुग के प्रारम्भ में अवक्तव्य भंग का अर्थ ऐसा किया जाता है कि सत्-असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक माथ प्रतिपादन करनेवाला कोई शब्द ही नही, अतएव ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। परन्तु अवक्तव्य शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ता है कि उसकी दूसरी व ऐतिहासिक व्याख्या पुराने शास्त्रो मे है।

उपनिषदो मे 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह'[1] इस उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय अथवा वचनागोचर सूचित किया है। इसी तरह 'आचाराग' मे भी 'सव्वे सरा निअट्टति, तत्थ झुणी न विज्जइ'[2] आदि द्वारा आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा है। बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओ को अव्याकृत[3] शब्द के द्वारा वचनागोचर ही सूचित किया है।

जैन परम्परा मे तो अनभिलाप्य[4] भाव प्रसिद्ध है, जो कभी वचनगोचर नही होते। मैं समझता हूँ कि सप्तभगी मे अवक्तव्य का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का वादाश्रित व तर्कगम्य दूसरा रूप है।

सप्तभंगी संशयात्मक ज्ञान नहीं है

सप्तभगी के विचारप्रसग मे एक बात का निर्देश करना जरूरी है। श्रीशकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' २-२-३३ के भाष्य मे सप्तभगी को सशयात्मक ज्ञान रूप मे निर्दिष्ट किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी उन्ही का अनुसरण किया है। यह हुई पुराने खण्डन-मण्डनप्रधान साम्प्रदायिक युग की बात। पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रवृत्त हुए नए युग के विद्वानो का विचार इस विषय मे जानना चाहिए। डॉ० ए० बी० ध्रुव, जो

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २-४।
२. आचाराग सू० १७०।
३. मज्झिमनिकाय सुत्त ६३।
४ विशेषावश्यकभाष्य १४१, ४८८।

भारतीय तथा पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की सब शाखाओं के पारदर्शी विद्वान् और खास कर शांकर वेदान्त के विशेष पक्षपाती रहे—उन्होने अपने 'जैन अने ब्राह्मण'[१] भाषण में स्पष्ट कहा है कि सप्तभंगी यह कोई सशयज्ञान नही है; वह तो सत्य के नानाविध स्वरूपों की निदर्शक एक विचारसरणी है। श्री नर्मदाशकर मेहता, जो भारतीय समग्र तत्त्वज्ञान की परम्पराओ और खासकर वेद-वेदान्त की परम्परा के असाधारण मौलिक विद्वान् थे[२] और जिन्होंने 'हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास' आदि अनेक अभ्यासपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, उन्होने भी सप्तभंगी का निरूपण बिल्कुल असाम्प्रदायिक दृष्टि से किया है, जो पठनीय है। सर राधाकृष्णन्, डॉ॰ दासगुप्ता[४] आदि तत्त्व-चिन्तको ने भी सप्तभंगी का निरूपण जैन दृष्टिकोण को बराबर समझ कर ही किया है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५०३-५०४

१. आपणो धर्म, पृ० ६७३।

२. पृ० २१३–२१९।

३. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसॉफी, वॉल्यूम १, पृ० ३०२।

४. दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० १७९।

: १६ :

ब्रह्म और सम

जहां तक भारतीय तत्त्वविचार का सम्बन्ध है, ऐसा कहा जा सकता है कि उस तत्त्वविचार के दो भिन्न-भिन्न उद्‌गमस्थान है एक है स्वात्मा और दूसरा है प्रकृति, अर्थात् पहला आन्तरिक है और दूसरा बाह्य है।

समता का प्रेरक तत्त्व 'सम'

किसी अज्ञात काल मे मनुष्य अपने आपके बारे मे विचार करने के लिए प्रेरित हुआ : मै स्वय क्या हूं? कैसा हूँ? दूसरे जीवो के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है?—ऐसे प्रश्न उसके मन मे पैदा हुए। इनका उत्तर पाने के लिए वह अन्तर्मुख हुआ और अपने सशोधन के परिणामस्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि 'मै एक सचेतन तत्त्व हूँ और दूसरे प्राणीवर्ग मे भी वैसी ही चेतना है।' इस विचार ने उसे अपने और दूसरे प्राणीवर्ग के बीच समता का दर्शन कराया। इस दर्शन मे से समभाव के विविध अर्थ और उसकी भूमिकाएँ तत्त्वविचार मे उपस्थित हुई। बुद्धि का यह प्रवाह 'सम' के रूप मे प्रसिद्ध है।

'ब्रह्म' और उसके विविध अर्थ

बुद्धि का दूसरा प्रभवस्थान बाह्य प्रकृति है। जो विश्वप्रकृति के विविध पहलुओ, घटनाओ और उनके प्रेरक बलो की ओर आकर्षित हुए थे उनको उसमे से कवित्व की अथवा यो कहें कि कवित्वमय चिन्तन की भूमिका प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के जिस कवि ने उषः के उल्लासप्रेरक एव रोमाचक दर्शन का सवेदन किया उसने रक्तवस्त्रा तरुणी के रूप मे उसका उषःसूक्त मे गान किया। समुद्र की उछलती तरगो और तूफानों के बीच नौकायात्रा करनेवाले जिस कवि को समुद्र के अधिष्ठायक वरुण का रक्षक

के रूप में स्मरण हो आया उसने वरुणसूक्त मे उस वरुणदेव की अपने सर्व-शक्तिमान रक्षक के रूप में स्तुति की। जिसे अग्नि की ज्वालाओं और प्रकाशक शक्तियों का रोमाचक सवेदन हुआ उसने अग्नि के सूक्तों की रचना की। जिसे गाढ अन्धकारवाली रात्रि का लोमहर्षक सवेदन हुआ उसने रात्रिसूक्त रचा। यही बात वाक्, स्कम्भ, काल आदि सूक्तो के बारे मे कही जा सकती है। प्रकृति के अलग-अलग रूप हों, अथवा उन मे कोई दिव्य सत्त्व हो, अथवा उन सबके पीछे कोई एक परम गूढ तत्त्व हो, परन्तु भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा की गई ये प्रार्थनाएँ दृश्यमान प्रकृति के किसी-न-किसी प्रतीक के आधार पर रची गई हैं। भिन्न-भिन्न प्रतीकों का अवलम्बन लेनेवाली ये प्रार्थनाएँ 'ब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध थी।

ब्रह्म के इस प्राथमिक अर्थ मे से फिर तो क्रमश अनेक अर्थ फलित हुए। जिन यज्ञो मे इन सूक्तो का विनियोग होता वे भी 'ब्रह्म' कहलाये। उनके निरूपक ग्रन्थ और विधिविधान करनेवाले पुरोहितों का भी ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण के रूप मे व्यवहार होने लगा। प्राचीन काल में ही प्रकृति के विविध पहलू या दिव्य सत्त्व एक ही तत्त्वरूप माने जाने लगे थे और ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे ही स्पष्ट कहा है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि भिन्न-भिन्न नामो से जिनकी स्तुति की जाती है वे आखिर मे तो एक ही तत्त्वरूप है और वह तत्त्व यानी सत्। इस प्रकार प्रकृति के अनेक प्रतीक अन्ततोगत्वा एक सत्‌रूप परम तत्त्व मे एकाकार हुए और यह विचार अनेक रूपों मे आगे विकसित और विस्तृत होता गया।

श्रमण और ब्राह्मण विचारधारा की एक भूमिका

समभावना के उपासक 'समन' या 'समण' कहलाये और सस्कृत मे उसका रूपान्तर 'शमन' या 'श्रमण' हुआ, परन्तु 'सम' शब्द सस्कृत ही होने से उसका सस्कृत मे 'समन' रूप बनता है। 'ब्रह्मन्' के उपासक और चिन्तक ब्राह्मण कहलाये। पहला वर्ग मुख्यतया आत्मलक्षी रहा; दूसरे वर्ग ने विश्वप्रकृति में से प्रेरणा प्राप्त की थी और उसी के प्रतीको के द्वारा वह सूक्ष्मतम तत्त्व पर्यन्त पहुँचा था, इसलिए वह मुख्य रूप से प्रकृतिलक्षी रहा। इस प्रकार दोनों वर्गों की बुद्धि का आद्य प्रेरकस्थान भिन्न-भिन्न था,

परन्तु दोनों वर्गों की बुद्धि के प्रवाह तो किसी अन्तिम सत्य की ओर ही बह रहे थे।

बीच के अनेक युगो मे इन दोनो प्रवाहों की दिशा अलग या अलग-सी लगती, कभी कभी इन दोनो मे सघर्ष भी होते; परन्तु सम का आत्मलक्षी प्रवाह अन्त में समग्र विश्व मे चेतनतत्त्व है और वैसा तत्त्व सभी देहधारियों में समान ही है ऐसी स्थापना मे परिसमाप्त हुआ। इसी से उसने पृथ्वी, पानी और वनस्पति तक में चेतनतत्त्व देखा और उसका अनुभव किया। दूसरी ओर प्रकृतिलक्षी दूसरा विचारप्रवाह विश्व के अनेक बाह्य पहलुओं को छूता हुआ अन्तर की ओर उन्मुख हुआ और उसने उपनिषत्काल मे स्पष्ट रूप से स्थापित किया कि निखिल विश्व के मूल मे जो एक सत् या ब्रह्म तत्त्व है वही देहधारी जीवव्यक्ति मे भी है। इस प्रकार पहले प्रवाह मे व्यक्तिगत चिन्तन समग्र विश्व के समभाव मे परिणत हुआ और उसके आधार पर जीवन का आचारमार्ग भी स्थापित किया गया। दूसरी ओर विश्व के मूल मे दिखाई देनेवाला परम तत्त्व ही व्यक्तिगत जीव है—जीवव्यक्ति उस परम तत्त्व से भिन्न नही है ऐसा अद्वैत भी स्थापित हुआ और इस अद्वैत के आधार पर अनेक आचारो की योजना भी हुई। गगा और ब्रह्मपुत्रा के प्रभव स्थान भिन्न-भिन्न होने पर भी अन्त मे वे दोनो प्रवाह जिस तरह एक ही महासमुद्र मे मिलते हैं, उसी तरह आत्मलक्षी और प्रकृतिलक्षी दोनो विचारधाराएँ अन्त में एक ही भूमिका पर आ मिलती है। इनमे भेद प्रतीत होता हो तो वह केवल शाब्दिक है और बहुत हुआ तो बीच के समय मे सघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए सस्कारो के कारण है।

शाश्वत विरोध होने पर भी एकता की प्रेरक परमार्थ दृष्टि

यह सही है कि समाज में, शास्त्रो मे और शिलालेख आदि मे भी ब्रह्म और सम के आसपास फैले हुए विचार और आचारों के भेद और विरोधो का उल्लेख आता है। हम बौद्ध पिटको, जैन आगमो और अशोक के शिलालेखों तथा दूसरे अनेक ग्रन्थों मे ब्राह्मण और श्रमण इन दो वर्गों का उल्लेख देखते हैं। महाभाष्यकार पतजलि ने इन दोनों वर्गों मे शाश्वत विरोध है ऐसा भी निर्देश किया है। ऐसा होने पर भी, ऊपर कहा उस प्रकार, ये दोनो प्रवाह

अपने-अपने ढंग से एक ही परम तत्त्व का स्पर्श करते हैं ऐसा प्रतिपादन किया जाय तो वह किस दृष्टि से ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण किये बिना तत्त्व-जिज्ञासा सन्तुष्ट नही हो सकती ।

वह दृष्टि है परमार्थ की। परमार्थदृष्टि कुल, जाति, वंश, भाषा, क्रियाकांड और वेश आदि के भेदो का अतिक्रमण कर वस्तु के मूलगत स्वरूप को देखती है, अर्थात् वह स्वाभाविक रूप से अभेद अथवा समता की ओर ही उन्मुख होती है। व्यवहार मे पैदा होनेवाले भेद और विरोध का प्रवर्तन सम्प्रदायो और उनके अनुयायियों मे ही होता है और कभी-कभी उसमें से सघर्ष भी पैदा होता है। ऐसे सघर्ष के सूचक ब्राह्मण-श्रमण वर्गों के भेदों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे आता है, परन्तु उसके साथ ही परमार्थदृष्टिसम्पन्न प्राज्ञ पुरुषों ने जो ऐक्य देखा था या अनुभव किया था उसका निर्देश भी अनेक परम्पराओ के अनेक शास्त्रो मे आता है। जैन आगम, जिनमे ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के भेद का निर्देश है, उन्ही मे सच्चे ब्राह्मण और सच्चे श्रमण का समीकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध पिटको मे भी वैसा ही समीकरण आता है। वनपर्व मे अजगर के रूप मे अवतीर्ण नहुष ने सच्चा ब्राह्मण कौन ऐसा प्रश्न युधिष्ठिर से पूछा है। इसके उत्तर मे युधिष्ठिर के मुख से महर्षि व्यास ने कहा है कि प्रत्येक जन्म लेनेवाला व्यक्ति सकर प्रजा है। मनु के शब्दो का उद्धरण देकर व्यास ने समर्थन किया है कि प्रजामात्र सकरजन्मा है, और सद्वृत्तवाला शूद्र जन्मजात ब्राह्मण से भी उत्तम है। व्यक्ति मे सच्चरित्र एव प्रज्ञा हो तभी वह सच्चा ब्राह्मण बनता है। यह हुई परमार्थदृष्टि। गीता मे ब्रह्म पद का अनेकधा उल्लेख आता है, साथ ही सम शब्द भी उच्च अर्थ मे मिलता है। पण्डिताः समदर्शिन.—यह वाक्य तो बहुत प्रसिद्ध है। सुत्तनिपात नाम के बौद्ध ग्रन्थ मे एक परमट्ठसुत्त है। उसमे भारपूर्वक कहा है कि दूसरे हीन या झूठे और मै श्रेष्ठ—यह परमार्थदृष्टि नही है।

गगा एव ब्रह्मपुत्रा के प्रभवस्थान भिन्न, परन्तु उनका मिलनस्थान एक। ऐसा होने पर भी दोनों महानदियों के प्रवाह भिन्न, किनारे पर की बस्तियाँ भिन्न, भाषा और आचार भी भिन्न। ऐसी जुदाई मे लीन रहनेवाले मिलनस्थान की एकता देख नही सकते। फिर भी वह एकता तो सत्य ही है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रभवस्थानों से उत्पन्न होनेवाले विचार-

प्रवाह भिन्न-भिन्न रूप से पोषित होने के कारण उनके स्थूल रूपो में मग्न रहनेवाले अनुयायी दोनो प्रवाहो का समीकरण देख नही सकते, परन्तु वह तथ्य तो अबाधित है। उसे देखनेवाले प्रतिभावान पुरुष समय-समय पर अवतीर्ण होते रहे हैं और वह भी सभी परम्पराओ मे।

समत्व का मुद्रालेख होने पर भी जैन और बौद्ध जैसी श्रमण परम्पराओ मे ब्रह्मचर्य और ब्रह्मविहार शब्द इतने अधिक प्रचलित हैं कि उनको इन परम्पराओ से अलग किया ही नही जा सकता। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व का मुद्रालेख धारण करनेवाले वर्ग मे भी 'सम' पद ऐसा तो एकरस हो गया है कि उसको ब्रह्मभाव या ब्राह्मी स्थिति से अलग किया ही नही जा सकता।

प्राचीन काल से चली आनेवाली इस परमार्थदृष्टि का उत्तर काल मे भी सतत पोषण होता रहा है। इसीलिए जन्म से ब्राह्मण परन्तु सम्प्रदाय से बौद्ध वसुबन्धु ने अभिधर्मकोष मे स्पष्ट कहा है कि 'श्रामण्यममलो मार्गः ब्राह्मण्यमेव तत्।' उसके ज्येष्ठ बन्धु असग ने भी वैसे ही अभिप्राय की सूचना अन्यत्र कही की है।

परमार्थदृष्टि की यह परम्परा साम्प्रदायिक माने जानेवाले नरसिह महेता मे भी व्यक्त हुई है। समग्र विश्व मे व्याप्त एक तत्त्व के रूप मे हरि का कीर्तन करने के पश्चात् उन्होने उस हरि के भक्त वैष्णवजन का एक लक्षण 'समदृष्टि ने तृष्णात्यागी' (समदृष्टि और तृष्णात्यागी) भी कहा है। इसी प्रकार साम्प्रदायिक समझे जानेवाले उपाध्याय यशोविजयजी ने भी कहा है कि समत्व प्राप्त करना ही ब्रह्मपद की प्राप्ति है।

इस परमार्थ और व्यवहारदृष्टि का भेद तथा परमार्थदृष्टि की यथार्थता डॉ० आनन्दशकर बी० ध्रुव ने भी बताई है। एक ब्राह्मणी के हाथ के भोजन का उन्होने स्वीकार नही किया, तब उन्होने कहा कि यह तो मेरा एक कुटुम्बगत नागर-सस्कार है। उसकी वास्तविकता मैं तर्कसिद्ध नहीं मानता, मात्र सस्कार का अनुसरण करता हूँ इतना ही। सही दृष्टि का निर्देश उन्होने अन्यत्र किया है। जैन आगम सूत्रकृताग की प्रस्तावना मे उन्होने कहा है कि, "जैन (श्रमण) हुए बिना 'ब्राह्मण' नही हुआ जाता, और 'ब्राह्मण' हुए बिना 'जैन' नही हुआ जाता। तात्पर्य यह कि जैनधर्म

का तत्त्व इन्द्रियों और मनोवृत्तियों को जीतने में है, और ब्राह्मणधर्म का तत्त्व विश्व की विशालता को आत्मा में उतारने में है।"

इतने सक्षेप पर से हम यह जान सकते हैं कि बुद्धि अन्त में एक ही सत्य मे विराम लेती है और साथ ही यह भी समझ सकते हैं कि व्यवहार के चाहे जितने भेदो और विरोधो का अस्तित्व क्यो न हो, परन्तु परमार्थ-दृष्टि कभी लुप्त नहीं होती।

[गुजराती साहित्य परिषद के अहमदाबाद में सम्पन्न १६५६ के अक्तूबर के अधिवेशन में तत्वज्ञान विभाग क अध्यक्षपद से दिये गये भाषण में से]

: १७ :

चार संस्थाएँ

(१) संघ संस्था . चतुर्विध संघ

भगवान महावीर ने जब वर्णबन्धन को तोड डाला तब त्याग के दृष्टि-बिन्दु पर अपनी सस्था के विभाग किये । उसमे मुख्य दो विभाग थे : एक घर-बार और कुटुम्ब-कबीले का त्याग करके विहरण करनेवाला अनगार वर्ग, और दूसरा कुटुम्ब-कबीले मे आसक्त स्थानवद्ध अगारी वर्ग । पहला वर्ग पूर्ण त्यागी था । उसमे स्त्री-पुरुप दोनो आते थे और वे साधु-साध्वी कहलाते थे । दूसरा वर्ग पूर्ण त्याग का अभिलापी था । इस प्रकार चतुर्विध सघव्यवस्था—अथवा ब्राह्मण-पन्थ के प्राचीन शब्द का नये रूप मे उपयोग करें तो चतुर्विध वर्णव्यवस्था—शुरू हुई । साधुसघ की व्यवस्था साधु करते। उसके नियम इस सघ मे अब भी हैं और शास्त्र मे भी बहुत सुन्दर और व्यवस्थित रूप से दिये गये है । साधुसघ के ऊपर श्रावक सघ का अकुश नही है ऐसा कोई न समझे । प्रत्येक निर्विवाद रूप से अच्छा कार्य करने के लिए साधु-सघ स्वतन्त्र है, परन्तु कही भूल मालूम हो अथवा तो मतभेद हो अथवा तो अच्छे काम मे भी मदद की अपेक्षा हो वहाँ साधुसघ ने स्वय ही श्रावक-संघ का अंकुश अपनी इच्छा से स्वीकार किया है । इसी प्रकार श्रावक सघ का सविधान अनेक प्रकार से भिन्न होने पर भी साधुसघ का अकुश वह मानता ही आया है । इस प्रकार पारस्परिक सहयोग से ये दोनो सघ सामान्यत. हितकार्य ही करते आये हैं ।

(द० औ० चि० भा० १, पृ० ३७७-३७८)

(२) साधुसंस्था

आज की साधुसंस्था भगवान महावीर की तो देन ही है, परन्तु यह संस्था उससे भी प्राचीन है । भगवती जैसे आगमों में तथा दूसरे प्राचीन

ग्रन्थों में पार्श्वापत्य अर्थात् पार्श्वनाथ के शिष्यों की बात आती है। उनमें से कई भगवान के पास जाने मे सकोच अनुभव करते हैं, कई उन्हें धर्म-विरोधी समझकर हैरान करते हैं, कई भगवान को हराने के लिए अथवा उनकी परीक्षा करने की दृष्टि से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं; परन्तु अन्त में पार्श्वापत्य की वह परम्परा भगवान महावीर की शिष्यपरम्परामें या तो समा जाती है या फिर उसका कुछ सड़ा हुआ भाग अपने आप झड जाता है। इस प्रकार भगवान का साधुसघ पुन. नये रूप मे ही उदित होता है, वह एक सस्था के रूप मे नवनिर्माण पाता है।

बुद्धिमत्तापूर्ण संविधान

उसकी रहन-सहन के, पारस्परिक व्यवहार के तथा कर्तव्यों के नियम बनते है। इन नियमो के पालन के लिए और यदि कोई इनका भग करे तो उसे योग्य दण्ड देने के लिए, सुव्यवस्थित राज्यतत्र की भाँति, इस साधु-सस्था के तंत्र मे भी नियम बनाये जाते है, छोटे-बडे अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं और इन सबके कार्यों की मर्यादा आँकी जाती है। सघ-स्थविर, गच्छस्थविर, आचार्य, उपाचार्य, प्रवर्तक, गणी आदि की मर्यादाएँ, आपसी व्यवहार, कार्य के विभाग, एक-दूसरे के झगड़ो का निर्णय, एक-दूसरे के गच्छ मे अथवा एक-दूसरे के गुरु के पास जाने-आने के, सीखने के, आहार इत्यादि के नियमो का जो वर्णन छेदसूत्रों मे मिलता है उसे देखने से साधुसस्था की सघटना के बारे मे आचार्यों की दीर्घदर्शिता के प्रति मान उत्पन्न हुए बिना नही रहता। इतना ही नही, आज भी किसी बडी सस्था को अपनी नियमावली तैयार करनी हो अथवा उसे विशाल बनाना हो तो उसे साधुसस्था की इस नियमावली का अभ्यास अत्यन्त सहायक होगा, ऐसा मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है।

भिक्षुणीसंघ और उसका बौद्ध संघ पर प्रभाव

इस देश के चारों कोनों में साधुसंस्था फैल चुकी थी। भगवान के अस्तित्व काल मे चौदह हज़ार भिक्षु और छत्तीस हज़ार भिक्षुणियों के होने का उल्लेख आता है। उनके निर्वाण के पश्चात् इस साधुसस्था मे कितनी

वृद्धि या कमी हुई इसका कोई निश्चित विवरण हमारे पास नहीं है, फिर भी ऐसा मालूम होता है कि भगवान् के बाद अमुक शताब्दियों तक तो इस सस्था मे कमी नही हुई थी, सम्भवत अभिवृद्धि ही हुई होगी। साधुसस्था मे स्त्रियो को स्थान भगवान महावीर ने ही सर्वप्रथम नही दिया था, उनके पहले भी भिक्षुणियाँ जैन साधुसघ मे थी और दूसरे परिव्राजक पथो मे भी थी, फिर भी इतना तो सच है कि भगवान महावीर ने अपने साधुसघ मे स्त्रियो को खूब अवकाश दिया और उसकी व्यवस्था अधिक मजबूत की। इसका प्रभाव बौद्ध साधुसघ पर भी पडा। बुद्ध भगवान साधुसघ मे स्त्रियों को स्थान नही देना चाहते थे, परन्तु उनको साधुसस्था मे स्त्रियो को स्थान अन्त मे देना पडा। उनके इस परिवर्तन मे जैन साधुसघ का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है ऐसा विचार करने पर लगता है।

साधु का ध्येय : जीवनशुद्धि

साधु यानी साधक। साधक का अर्थ है अमुक ध्येय की सिद्धि के लिए साधना करनेवाला, उस ध्येय को पाने की इच्छावाला। जैन साधुओ का ध्येय मुख्य रूप से तो जीवनशुद्धि ही निश्चित किया गया है। जीवन को शुद्ध करने का मतलब है उसके बन्धन, उसके मल, उसके विक्षेप एव उसकी सकुचितताओ को दूर करना। भगवान ने अपने जीवन द्वारा समझदार को ऐसा पदार्थपाठ सिखाया है कि जब तक वह स्वय अपना जीवन अन्तर्मुख होकर नही जाँचता, उसका शोधन नही करता, स्वय विचार एव व्यवहार मे स्थिर नही होता और अपने ध्येय के विषय मे उसे स्पष्ट प्रतीति नही होती, तब तक वह कैसे दूसरे को उस ओर ले जा सकता है? खास करके आध्यात्मिक जीवन जैसे महत्त्व के विषय मे यदि किसी का नेतृत्व करना हो तो पहले—अर्थात् दूसरे के उपदेशक अथवा गुरु बनने से पहले—अपने-आपको उस विषय मे बराबर तैयार करना चाहिए। इस तैयारी का समय ही साधना का समय है। ऐसी साधना के लिए एकान्त स्थान, स्नेही तथा अन्य लोगो से अलगाव, किसी भी सामाजिक अथवा अन्य प्रपचो में सिरपच्ची न करना, अमुक प्रकार के खाने-पीने के तथा रहन-सहन के नियम—इन सबकी आयोजना की गई है।

त्यागान्तर और लोकोपकार

इस संस्था मे ऐसे असाधारण पुरुष पैदा हुए हैं, जिनमे अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म विचारणा सदा-सर्वदा विद्यमान रही थी। कई ऐसे भी हुए हैं, जिनमे वहिर्दृष्टि तो थी ही, और अन्तर्दृष्टि से भी रहित नही थे। कुछ ऐसे भी हुए हैं, जिनमे अन्तर्दृष्टि तो नगण्य अथवा सर्वथा गौण थी और बहिर्दृष्टि ही मुख्य हो गई थी। चाहे जो हो, परन्तु एक ओर समाज और कुलधर्म के रूप मे जैनत्व का विस्तार होता गया और उस समाज मे से ही साधु बनकर इस सस्था मे दाखिल होते गये और दूसरी ओर साधुओ का वसनिम्थान भी धीरे-धीरे बदलता गया। जगलो, पहाड़ो और नगर के बाहरी भागो मे से साधुगण लोकबम्ती मे आने लगे। साधुसस्था ने जनसमुदाय में स्थान लेकर अनिच्छा मे भी लोकसमर्गजनित कुछ दोष अपना लिए हों, तो उसके साथ ही उस सम्था ने लोगो को अपने कुछ खास गुण भी दिये है, अथवा वैसा करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। जो त्यागी अन्तर्दृष्टिवाले थे और जिन्होंने जीवन मे आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त की थी उनके शुभ और शुद्ध कृत्य का लेखा तो उनके साथ ही गया, क्योकि उनको अपने जीवन की सस्मृति दूमरो को देने की तनिक भी परवाह नही थी; परन्तु जिन्होने, अन्तर्दृष्टि होने, न होने अथवा कमोबेश होने पर भी लोककार्य में अपने प्रयत्न द्वारा कुछ अर्पण किया था उनकी स्मृति हमारे समक्ष वज्रलिपि मे है—एक समय के मासभोजी और मद्यपायी जनसमाज में मास और मद्य की ओर जो अरुचि अथवा उसके सेवन मे अधर्मबुद्धि उत्पन्न हुई है उसका श्रेय साधुसस्था को कुछ कम नही है। साधुसंस्था का रात-दिन एक काम तो चलता ही रहता कि वे जहाँ कही जाते वहाँ सात व्यसन के त्याग का शब्द से और जीवन से पदार्थपाठ सिखाते। मांस के प्रति तिरस्कार, शराब के प्रति घृणा और व्यभिचार की अप्रनिष्ठा तथा ब्रह्मचर्य का बहुमान—इतना वातावरण लोकमानस में तैयार करने मे साधुसस्था का असाधारण प्रदान है इसका कोई इन्कार नही कर सकता।

(द० औ० चिं० भा० १, पृ० ४१२-४१६)

(३) तीर्थ संस्था

जिस स्थान के साथ धार्मिक आत्माओं का कुछ भी सम्बन्ध रहा हो, अथवा जहा प्राकृतिक सौन्दर्य हो, अथवा इन दोनो मे से एक भी न हो, फिर भी जहा किसी सम्पन्न व्यक्ति ने पुष्कल द्रव्य व्यय करके इमारत की, स्थापत्य की, मूर्त्ति की या वैसी कोई विशेषता लाने का प्रयत्न किया हो वहाँ प्राय तीर्थ खडे हो जाते है। ग्राम एव नगरो के अतिरिक्त समुद्रतट, नदी-किनारे, दूसरे जलाशय तथा छोटे-बडे पहाड़ प्राय तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध है।

जैन तीर्थ जलाशयो के पास नही आये ऐसा तो नही है; गगा जैसी बडी नदी के किनारे पर तथा दूसरे जलाशयो के पास सुन्दर तीर्थ आये हैं, फिर भी स्थान के विषय मे जैन तीर्थों की विशेषता पहाड़ो की पसन्दगी मे है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण या उत्तर कही भी भारत मे जाओ, तो वहाँ जैनों के प्रधान तीर्थ टीलो और पहाडो पर आगे हैं। केवल श्वेताम्बर सम्प्रदाय की ही नही, दिगम्बर सम्प्रदाय की भी स्थान-विषयक खास पसन्दगी पहाड़ों ही की है। जहाँ श्वेताम्बरो का तनिक भी सम्बन्ध नही है और उनका आना-जाना भी नही है वैसे कई दिगम्बरो के खास तीर्थ दक्षिण भारत मे हैं और वे भी पहाड़ी प्रदेश मे आये है। इस पर से इतना ही फलित होता है कि तीर्थ के प्राणभूत सन्त पुरुषो का मन कैसे-कैसे स्थानो मे अधिक रमता था और वे किस प्रकार के स्थान पसन्द करते थे। भक्तवर्ग हो या मनुष्य-मात्र हो, उनको एकान्त और नैसर्गिक सुन्दरता कैसी अच्छी लगती है यह भी इन तीर्थस्थानो के विकास पर से जाना जा सकता है। भोगमय और कार्यरत जीवन बिताने के बाद, अथवा बीच-बीच मे कभी-कभी आराम एव आनन्द के लिए मनुष्य किन और कैसे स्थानो की ओर दृष्टि डालता है यह हम तीर्थस्थानो की पसन्दगी पर से जान सकते हैं।

तीर्थों के विकास में मूर्तिप्रचार का विकास है और मूर्तिप्रचार के साथ ही मूर्तिनिर्माण-कला तथा स्थापत्यकला सम्बद्ध है। हमारे देश के स्थापत्य में जो वैशिष्ट्य एव मोहकता है उसका मुख्य कारण तीर्थस्थान और मूर्ति-पूजा है। भोगस्थानों मे स्थापत्य आया है सही, पर उसका मूल धर्मस्थानों मे और तीर्थस्थानो में ही है।

देवद्रव्य के रक्षण की सुन्दर व्यवस्था

जैनों के तीर्थ दो-पाँच या दस नही, और वे भी देश के किसी एक भाग मे नही, किन्तु जहाँ जायँ वहाँ चारो ओर फैले हुए है। यही किसी समय जैन समाज का विस्तार कितना था इसका सबूत है। जैन तीर्थों की एक खास सस्था ही है। गृह-मन्दिर तथा सर्वथा व्यक्तिगत स्वामित्व के मन्दिरो को एक ओर रखे, तो भी जिन पर छोटे-बड़े सघ का आधिपत्य एव उनकी देखभाल हो ऐसे सघ के स्वामित्व वाले मन्दिरों मे छोटे-बडे भण्डार होते हैं। इन भण्डारो मे खासे पैसे जमा होते है, जिसे देवद्रव्य कहते हैं। इसमे सन्देह नहीं है कि यह देवद्रव्य इकट्ठा करने मे, उसकी सारसभाल रखने मे और कोई उसे चाँऊ न कर जाय इसके लिए योग्य व्यवस्था करने मे जैन समाज ने अत्यन्त चतुरता और ईमानदारी बरती है। भारत के दूसरे किसी सम्प्रदाय के देवद्रव्य मे जैन सम्प्रदाय के जितनी स्वच्छता शायद ही कही दिखाई दे। इसी प्रकार देवद्रव्य उसके निर्दिष्ट उद्देश्य के अतिरिक्त अन्यत्र कही व्यय न हो, उसका दुरुपयोग न हो और कोई हज़म न कर जाय उसके लिए जैन सघ ने एक नैतिक और सुन्दर व्यावहारिक वातावरण खडा किया है।

जानने योग्य बातें

तीर्थसस्था के साथ मूर्ति का, मन्दिर का, भण्डार का और यात्रासघ निकालने का—इन चार का अत्यन्त मनोरजक और महत्त्वपूर्ण इतिहास जुडा हुआ है। लकडी, धातु और पत्थर ने मूर्ति और मन्दिरो मे किस-किस प्रकार, किस-किस युग मे कैसा-कैसा भाग लिया, एक के बाद दूसरी व्यवस्था किस प्रकार आती गई, भण्डारों मे अव्यवस्था और गोलमाल कैसे पैदा हुए और उनकी जगह पुन: व्यवस्था और नियंत्रण किस तरह आये, समीप एव दूरस्थ तीर्थों मे हजारों और लाखों मनुष्यो के संघ यात्रा के लिए किस प्रकार जाते और साथ ही वे क्या-क्या काम करते—यह सारा इतिहास खूब जानने जैसा है।

त्याग, शान्ति और विवेकभाव प्राप्त करने की प्रेरणा मे से ही हमने

तीर्थ खड़े किये हैं और वहाँ जाने का तथा उसके पीछे शक्ति, सम्पत्ति और समय का व्यय करने का हमारा उद्देश्य भी यही है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ४०५-४०८)

(४) ज्ञानसंस्था—ज्ञान भण्डार

जहाँ मानवजाति है वहाँ ज्ञान का आदर सहज रूप से होता ही है और भारत में तो ज्ञान की प्रतिष्ठा हज़ारो वर्षों से चली आती है। ब्राह्मण और श्रमण सम्प्रदाय की गगा-यमुना की धाराएँ मात्र ज्ञान के विशाल पट पर ही बहती आई हैं और बहती जाती है। भगवान महावीर का तप और कुछ नही, केवल ज्ञान की गहरी शोध है। जिस शोध के लिए उन्होंने शरीर की परवाह न की, दिन-रात न देखे और उनकी जिस गहरी शोध को जानने-सुनने के लिए हज़ारो मनुष्यो का मानवसमूह उनके पास उमड़ता था वह शोध यानी ज्ञान, और उस पर भगवान के पथ का निर्माण हुआ है।

ज्ञान और उसके साधनों की महिमा

उस ज्ञान ने श्रुत और आगम का अभिधान धारण किया। उसमे अभिवृद्धि भी हुई और स्पष्टताएँ भी होती रही। जैसे-जैसे इस श्रुत और आगम के मानससरोवर के किनारे पर जिज्ञासु हस अधिकाधिक सख्या मे आते गये वैसे-वैसे ज्ञान की महिमा बढती गई। इस महिमा के साथ ही ज्ञान को मूर्त करनेवाले स्थूल साधनो की महिमा भी बढती गई। ज्ञान की सुरक्षा मे सीधे तौर पर मदद करनेवाले पुस्तक-पन्ने ही नही, परन्तु उसमे उपयोगी होनेवाले ताडपत्र, लेखनी, स्याही का भी ज्ञान के जितना ही आदर होने लगा। इतना ही नही, इन पोथी-पन्नो के वेष्टनो तथा उनको बाँधने और रखने के उपकरणों का भी बड़ा ही सत्कार होने लगा। ज्ञान देने-लेने मे जितना पुण्यकार्य, उतना ही ज्ञान के स्थूल उपकरणों के देने-लेने में भी पुण्यकार्य समझा जाने लगा।

ज्ञानभण्डारों की स्थापना और उनका विकास

एक ओर शास्त्रसग्रह और उनको लिखाने की बढ़ती जाती महिमा

और दूसरी ओर सम्प्रदायों की ज्ञान-विषयक स्पर्धा—इन दो कारणों से मुखपाठ के रूप मे चली आनेवाली समस्त पूर्वकालीन ज्ञानसस्था में परिवर्तन हो गया और वह बडे-बडे भण्डारो के रूप मे दृष्टिगोचर होने लगी ।

प्रत्येक गाव और नगर के सघ को ऐसा लगता कि हमारे यहाँ ज्ञान-भंडार होना ही चाहिए। प्रत्येक त्यागी साधु भी ज्ञानभण्डार की रक्षा और वृद्धि में ही धर्म की रक्षा मानने लगा। इसके परिणामस्वरूप समग्र देश मे एक कोने से दूसरे कोने तक जन ज्ञानसस्था भण्डारो के रूप मे व्यवस्थित हो गई। भण्डार पुस्तको से उमड़ने लगे। पुस्तको मे भी विविध विषयों के तथा विविध सम्प्रदायों के ज्ञान का सग्रह होने लगा। सघ के भण्डार, साधुओ के भण्डार और व्यक्तिगत मालिकी के भी भण्डार—इस प्रकार भगवान के शासन मे भण्डार, भण्डार और भण्डार ही हो गये। इसके साथ ही बड़ा लेखकवर्ग खडा हुआ, लेखनकला विकसित हुई और अभ्यासीवर्ग भी खूब बढ़ा। मुद्रणकला यहा नहीं आई थी उस समय भी किसी एक नये ग्रन्थ की रचना होते ही उसकी सैकडो नकले तैयार हो जाती और देश के सब कोनो मे विद्वानो के पास पहुँच जाती। इस प्रकार जैन सम्प्रदाय मे ज्ञानसस्था की गगा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित होती आई है। ज्ञान के प्रति सजीव भक्ति के परिणामस्वरूप इस समय भी ये भण्डार इतने अधिक हैं और उनमे इतना अधिक विविध एव प्राचीन साहित्य है कि उसका अभ्यास करने के लिए विद्वानो की कमी महसूस होती है। विदेश के और इस देश के अनेक शोधको और विद्वानो ने इस भण्डारो के पीछे बरसो विताये है और इनमें सगृहीत वस्तु तथा इनके प्राचीन रक्षाप्रबन्ध को देखकर वे चकित होते हैं।

ब्राह्मण और जैन भण्डारों के बीच अन्तर

ब्राह्मण सम्प्रदाय के और जैन सम्प्रदाय के भण्डारो के बीच एक अन्तर है और वह यह कि ब्राह्मण भण्डार व्यक्ति की मालिकी के होते है, जब कि जैन भण्डार बहुधा संघ की मालिकी के होते हैं; और कही व्यक्ति की मालिकी के होते हैं तो भी उनका सदुपयोग करने के लिए व्यक्ति स्वतंत्र होता है, परन्तु दुरुपयोग होता हो तो प्रायः संघ की सत्ता आकर खड़ी होती

है। ब्राह्मण आश्विन मास में ही पुस्तकों में से वर्षाकाल की नमी दूर करने और पुस्तकों की देखभाल के लिए तीन दिन का सरस्वतीशयन नामक पर्व मनाते हैं, जबकि जैन कार्तिक शुक्ला पचमी को ज्ञानपचमी कहकर उस दिन पुस्तको और भण्डारो की पूजा करते हैं, और उस निमित्त द्वारा चौमासे से होनेवाले बिगाड़ को भडारो मे से दूर करते है । इस प्रकार जैन ज्ञानसंस्था, जो एक समय मौखिक थी, उसमें अनेक परिवर्तन होते-होते और घट-बढ़ तथा अनेक वैविध्य का अनुभव करती-करती वह आज मूर्तरूप मे हमारे समक्ष इस रूप मे विद्यमान है ।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ३७३-३७५)

जैन ज्ञान-भण्डारों की असाम्प्रदायिक दृष्टि

सैंकडो वर्षों से जगह-जगह स्थापित बड़े-बडे ज्ञान-भण्डारो में केवल जैन शास्त्र का या अध्यात्मशास्त्र का ही सग्रह्-रक्षण नही हुआ है, बल्कि उनके द्वारा अनेकविध लौकिक शास्त्रो का असाम्प्रदायिक दृष्टि से सग्रह-सरक्षण हुआ है। क्या वैद्यक, क्या ज्योतिष, क्या मन्त्र-तन्त्र, क्या सगीत, क्या सामुद्रिक, क्या भाषाशास्त्र, काव्य, नाटक, पुराण, अलकार व कथाग्रन्थ और क्या सर्वदर्शन सबन्धी महत्त्व के शास्त्र—इन सबो का ज्ञानभण्डारो मे सग्रह्-सरक्षण ही नही हुआ है, बल्कि इनके अध्ययन व अध्यापन के द्वारा कुछ विशिष्ट विद्वानों ने ऐसी प्रतिभामूलक नव कृतियाँ भी रची हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं और मौलिक गिनी जाने लायक हैं तथा जो विश्वसाहित्य के सग्रह में स्थान पाने योग्य है। ज्ञानभण्डारों मे से ऐसे ग्रथ मिले हैं, जो बौद्ध आदि अन्य परंपरा के हैं और आज दुनिया के किसी भाग मे मूलस्वरूप मे अभी तक उपलब्ध भी नही है।

(द० औ० चि० ख० २, पृ० ५१८-५१९)

: १८ :

पर्युषण और संवत्सरी

जैन पर्वों का उद्देश्य

जैन पर्व सबसे अलग पड़ते हैं। जैनों का एक भी छोटा या बड़ा पर्व ऐसा नही है जो अर्थ या काम की भावना मे से अथवा तो भय, लालच और विस्मय की भावना में से उत्पन्न हुआ हो, अथवा उसमें पीछे से प्रविष्ट वैसी भावना का शास्त्र से समर्थन किया जाता हो। निमित्त तीर्थंकरो के किसी कल्याणक का अथवा कोई दूसरा हो, परन्तु उस निमित्त से प्रचलित पर्व या त्योहारों का उद्देश्य सिर्फ ज्ञान और चारित्र की शुद्धि एव पुष्टि करने का ही रखा गया है। एक दिन के अथवा एक से अधिक दिनो तक चलनेवाले त्योहारों के पीछे जैन परम्परा में मात्र यही एक उद्देश्य रहा है।

पर्युषण पर्व : श्रेष्ठ अष्टाह्निका

लम्बे त्योहारो मे खास छः अष्टाह्निकाएँ (अट्ठाइयाँ) आती हैं। उनमें भी पर्युषण की अट्ठाई सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है; इसका मुख्य कारण तो उसमे आनेवाला सांवत्सरिक पर्व है। इन आठो दिन लोग यथाशक्य धधा-रोजगार कम करने का, ज्ञान-तप बढ़ाने का, ज्ञान, उदारता, आदि गुणों को पोसने का और ऐहिक एव पारलौकिक कल्याण का प्रयत्न करते हैं। जहाँ देखो वहाँ जैन परम्परा में एक धार्मिक वातावरण, आषाढ़ मास के बादलों की भाँति, घिर आता है। ऐसे वातावरण के कारण इस समय भी इस पर्व के दिनों में नीचे की बातें सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं : (१) दौड़धूप कम करके यथाशक्य निवृत्ति और अवकाश प्राप्त करने का प्रयत्न, (२) खाने-पीने और दूसरे कई भोगों पर कमोबेश अंकुश, (३) शास्त्रश्रवण और आत्मचिन्तन की वृत्ति, (४) तपस्वी, त्यागियों

तथा सार्धमिक बन्धुओं की योग्य प्रतिपत्ति—भक्ति, (५) जीवों को अभयदान देने का प्रयत्न, (६) मनमुटाव भूलकर सबके साथ सच्ची मैत्री साधने की भावना।

श्वेताम्बर के दोनो फिर्कों मे यह अष्टाह्निका 'पजूसन' (पर्युषण) के नाम से ही प्रसिद्ध है और सामान्यत दोनो मे यह अष्टाह्निका एक साथ ही शुरू होती है तथा पूर्ण भी होती है, परन्तु दिगम्बर परम्परा मे आठ के स्थान पर दस दिन माने जाते है और पजूसन के स्थान पर उसे 'दशलक्षणी' कहते हैं। उसका समय भी श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा भिन्न है। श्वेताम्बर परम्परा के पजूसन पूर्ण होते ही दूसरे दिन से दिगम्बरो का दशलक्षणी पर्व शुरू होता है।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ३३५-३३७)

इस अठवाड़े मे हम भगवान महावीर की पुण्यकथा सुनने और उसके मर्म पर विचार करने के लिए पूर्ण अवकाश प्राप्त कर सकते है। भगवान ने अपनी कठोर साधना के द्वारा जिन सत्यो का अनुभव किया था, उन्होने स्वय ही जिन सत्यो को समकालीन सामाजिक परिस्थिति को सुधारने की दृष्टि से व्यवहार मे रखा था और लोग तदनुसार जीवन जीएँ इस हेतु से जिन सत्यो का समर्थ रूप से प्रचार किया था वे सत्य सक्षेप मे तीन है :

(१) दूसरे के दु ख को अपना दु ख समझकर जीवनव्यवहार चलाना, जिससे जीवन मे सुखशीलता और विषमता के हिंसक तत्त्वो का प्रवेश न हो। (२) अपनी सुखसुविधा का, समाज के हित के लिए, पूर्ण बलिदान देना, जिससे परिग्रह बन्धनरूप न होकर लोकोपकार मे परिणत हो। (३) सतत जागृति और जीवन का अन्तर्निरीक्षण करते रहना, जिससे अज्ञान अथवा निर्बलता के कारण प्रवेश पानेवाले दोषो पर निगरानी रखी जा सके और आत्म-पुरुषार्थ मे न्यूनता न आने पावे।

(द० अ० चि० भा० १, पृ० ४८३-४८४)

संवत्सरी : महापर्व

सावत्सरिक पर्व एक महापर्व है। दूसरे किसी भी पर्व की अपेक्षा वह महत् है। इसकी महत्ता किस मे है यह हमें समझना चाहिए।

किसी भी व्यक्ति को सच्ची शान्ति का अनुभव करना हो, सुविधा या असुविधा, आपत्ति या सम्पत्ति में स्वस्थता बनाये रखनी हो और व्यक्तित्व को खण्डित न करके उसकी आन्तरिक अखण्डितता सुरक्षित रखनी हो तो उसका एकमात्र और मुख्य उपाय यही है कि वह व्यक्ति अपनी जीवनप्रवृत्ति के प्रत्येक क्षेत्र का सूक्ष्मता से अवलोकन करे। इस आन्तरिक अवलोकन का उद्देश्य यही हो कि कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार से, किस-किस के साथ छोटी या बड़ी भूल हुई है यह वह देखे। जब कोई मनुष्य सच्चे हृदय से और नम्रतापूर्वक अपनी भूल देख लेता है तब उसे वह भूल, चाहे जितनी छोटी हो तो भी, पहाड़ जैसी बड़ी लगती है और उसे वह सह नहीं सकता। अपनी भूल और कमी का भान मनुष्य को जागृत और विवेकी बनाता है। जागृति और विवेक से मनुष्य को दूसरों के साथ सम्बन्ध कैसे रखना चाहिए और उनको किस तरह बढाना-घटाना चाहिए इसकी सूझ पैदा होती है। इस प्रकार आन्तरिक अवलोकन मनुष्य की चेतना को खण्डित होने से रोकता है। ऐसा नहीं है कि ऐसा अवलोकन केवल त्यागी और साधु-सन्तों के लिए ही आवश्यक हो, वह तो छोटी-बड़ी उम्र के और किसी भी रोजगार और संस्था के मनुष्य के लिए सफलता की दृष्टि से आवश्यक है, क्योंकि वैसा करने से वह मनुष्य अपनी कमियों को दूर करते-करते ऊँचे उठता है और सबके मनों को जीत लेता है। यह सांवत्सरिक पर्व के महत्त्व का एक मुख्य किन्तु व्यक्तिगत पक्ष हुआ, परन्तु इस महत्त्व का सामुदायिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। मैं जानता हूँ वहाँ तक, सामुदायिक दृष्टि से आन्तरिक अवलोकन का महत्त्व जितना इस पर्व को दिया गया है उतना किसी दूसरे पर्व को दूसरे किसी वर्ग ने नहीं दिया। इस पर से समझा जा सकता है कि सामुदायिक दृष्टि से आन्तरिक अवलोकनपूर्वक अपनी-अपनी भूल का स्वीकार करना तथा जिसके प्रति भूल हुई हो उसकी सच्चे दिल से क्षमायाचना करना और उसे भी क्षमा देना सामाजिक स्वास्थ्य के लिए भी कितना महत्त्व का है।

इसीसे जैन-परम्परा में ऐसी प्रथा प्रचलित है कि प्रत्येक गाँव, नगर और शहर का संघ आपस-आपस में क्षमायाचना करते हैं और एक-दूसरे को क्षमा प्रदान करते हैं, इतना ही नहीं, दूसरे स्थानों के संघ के साथ भी वे

वैसा ही व्यवहार करते हैं। सघो में केवल गृहस्थ ही नहीं आते, त्यागी भी आते हैं; पुरुष ही नही, स्त्रियाँ भी आती हैं। सघ यानी केवल एक फिर्के, एक गच्छ, एक आचार्य या एक उपाश्रय के ही अनुयायी नही, परन्तु जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक जैन। और, जैनो को केवल जैन परम्परावालों के साथ ही जीवन बिताना पड़ता है ऐसा नहीं है; उनको दूसरों के साथ भी उतना ही काम पडता है और यदि भूल हो तो वह जैसे आपस-आपस मे होती है वैसे दूसरो के साथ भी होती है। अतएव भूल-स्वीकार और क्षमा करने-कराने की प्रथा का रहस्य केवल जैन परम्परा में ही परिसमाप्त नही होता, परन्तु वास्तव मे तो वह रहस्य समाजव्यापी क्षमापना मे सन्निहित है। वह यहाँ तक कि ऐसी प्रथा का अनुसरण करनेवाला जैन सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अगम्य जीववर्ग से भी क्षमायाचना करता है—सज्ञान अथवा अज्ञानभाव से उसकी कोई भूल हुई हो तो वह क्षमा माँगता है।

वस्तुत. इस प्रथा के पीछे दृष्टि तो दूसरी है और वह यह कि जो मनुष्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव के प्रति भी कोमल बनने के लिए तैयार हो उसे तो सर्व-प्रथम जिसके साथ मनमुटाव हुआ हो, जिसके प्रति कटुता पैदा हुई हो, एक-दूसरे की भावना को चोट पहुँची हो उसके साथ क्षमा ले-देकर मन स्वच्छ करना चाहिए।

(द० अ० चिं० भा० १, पृ० ३५४-३५६)